कविता

एक कारवां आ रहा है जिंदगी से भरा हुआ!

■ रामदेव शुक्ल
कवि व आलोचक

संपर्क : शीतल सुयश,
राप्ती चौक,
आरोग्य मंदिर (पो.),
गोरखपुर-273003 (उ.प्र.)

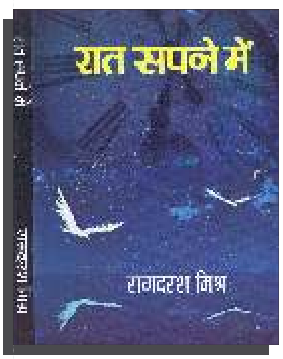

पुस्तक : रात सपने में
लेखक : रामदरश मिश्र
प्रकाशक : इंद्रप्रस्थ प्रकाशन
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 80
मूल्य : रु. 200

चौरानबे वर्ष की उम्र। साहित्य की प्रत्येक विधा में विशाल पाठक वर्ग को मुग्ध करने वाला लेखन। शरीर की क्षीर्णता को सर्जना के बल पर चुनौती देता सहज रामदीप्त व्यक्तित्व। ये हैं रामदरश मिश्र, अपने इक्कीसवें कविता-संग्रह 'रात सपने में' की 66 कविताओं के साथ। 24 नवंबर 2015 से लेकर 17 नवंबर 2016 के बीच रची गई ये कविताएं मिश्र जी की सर्जना की अन्य विशेषताओं के साथ-साथ पूर्ण परिपक्व व्यक्तित्व की सुवास से पाठक का जी जुड़ाती हैं।

रामदरश मिश्र

रेखांकन : सोमेश कुमार

मोबाइल संदेश के रूप में घर में घुसे बाजार ने कवि को बाजार के उस मोहक स्वरूप की याद दिला दी है, जब-

पहले बाजार के दिन का इंतजार
होता था
वह लोगों के मन के भीतर बजता रहता था मौन भाव से
लोग अपनी जरूरत की चीजों के लिए बाजार जाते थे
और भर लाते थे सप्ताह भर की खुशी
जर-जवार के अनेक लोग बाजार में मिलते थे
हालचाल पूछते थे
भाईचारे की एक लय बनी रहती थी
तब कितना सुहावना लगता था बाजार
अब बाजार खुद हमारे घरों में आने लगा है
वह विभिन्न स्रोतों से
शौक के नए-नए समानों के विज्ञापन उगल रहा है
और उन्हें हमारी जरूरत में बदल रहा है
कल तक वह बाजार था
आज बाजारवाद हो गया है
डर है कल लोग घर से बाहर होंगे
और बाजार उनके घर में होगा।
लोगों को अपने ही घर में बेघर कैसे हो जाना पड़ता है?
उसका मकान छोटा है/उसमें दो चार बरतन हैं
कुछ कपड़े लत्ते हैं/कुछ खाने पीने की चीजें हैं
लेकिन उसमें एक दिल तैरते रहता है
और भरता रहता है उसके खालीपन को
मकान घर बन जाता है।

दूसरी ओर विविध समानों और कृत्रिम मुस्कानों से भरा हुआ मकान दिल की नहीं। पैसे की भाषा बोलता और समझता है और वह कभी घर नहीं बना पाता। घर और मकान, दिल और दौलत, दीन और दुनियादारी के द्वंद्व आदमी के वजूद के साथ जुड़े हुए हैं। इनके बीच अपनी सही समझ और संवेदना के साथ अस्तित्व की लय से जुड़ना जीवन को सार्थक बना देता है। जिंदगी में फूल और कांटे दोनों मिलते हैं। सर्जना का पक्ष क्या है?

रास्ते भर बबूल तने रहे/अपने
लंबे-लंबे कांटों के साथ
घर लौटा तो/कोई भी बबूल मेरी
याद में नहीं रहा
किंतु रास्ते में कहीं/छिपा हुआ
कोई फूल महक उठा था
लगता है वह मेरे साथ चलता
आया है
और सफर खुशबू से भर गया है।

छात्रावस्था में कवि रूप में विख्यात रामदरश मिश्र की प्राइमरी शिक्षा से लेकर बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, गुजरात, दिल्ली में बबूल के कांटों से छिदते रहने की दुश्वारियों का परिचय उनकी रचना के माध्यम से पाठक तक पहुंचाता रहा है, उन सबको भूलकर केवल सुगंध को यादों में सहेजकर रचते रहना उन्हीं के बूते का काम रहा है।

गांव और किसान के जीवन से कवि को वह जीवन-दर्शन मिला है, जो सबके सुख को अपनी चरम उपलब्धि मानता है।

वह नहीं जानता
दुनिया का सबसे बड़ा पहाड़, झरना या नद कौन है
वह नहीं जानता/संसार के आठ आश्चर्य कौन से हैं
वह नहीं जानता/दुनिया में कितने देश हैं
और उनके प्रधान कौन-कौन हैं
वह जानता है अपने खेत को/उसमें पड़ने वाली खाद बीज को

लहलहाती हुई फसल को/जिसके दानें खेत नहीं खाते
बल्कि फैल जाते हैं-धरती के इस छोर से उस छोर तक
और लोगों का लहू बनकर हँसी बन जाते हैं
वह उस हँसी में ईश्वर को देख लेता है।

इक्कीसवीं सदी क्रूर धर्मोन्माद में पगलायी हुई है। मिश्र जी की 'धर्म' कविता एक सुंदर आख्यान निर्मित करती है।

इधर मंदिर है, उधर मस्जिद
दोनों के बीच में दोनों के खेत फैले हुए हैं
उसके भीतर झूमती हैं फसलें/गाती हैं समवेत गान
चिड़ियां कभी यहां बैठती है कभी वहां
उनकी चहचहाहट में एक वितान तन जाता है
हवा इस खेत से उस खेत तक लहराती है
और उनके हालचाल पूछती है
धूप समान भाव से खिलखिलाती है सबके ऊपर
बारिश होती है तो उसका जल
फसलों में जीवन ऊर्जा की दीप्ति भर देता है
समय से बारिश नहीं होती है तो
सारे खेत एक साथ उदास हो उठते हैं
वसंत आते ही जीवन-राग बन कर वे
मंदिर मस्जिद को स्वयं से भर देते हैं
लेकिन जब वे
मंदिर मस्जिद की आपसी तकरार सुनते हैं
तो दर्द से कहते हैं-
ओ मंदिर, मस्जिद/तुम्हारा असली धर्म तो हम हैं
हम तो कभी नहीं बंटे/तुम क्यो बंट रहे हो!

गौतम बुद्ध ने कृषि को सर्वोत्तम आजीविका इसलिए घोषित किया था कि सबका पेट भरने वाला अन्न है और उसका विधाता किसान है। आज के वैश्विक परिदृश्य में धर्म का इससे उपयुक्त आख्यान नहीं हो सकता।

परिपक्वावस्था में हमारे यहां 'हारे को हरिनाम' (दिनकर) की सुधि आती है। रामदरश मिश्र बिलकुल सरदार भगत सिंह के तीखे तेवर में ईश्वर से संवाद करते हैं।

तुम्हारा नाम जपने वाले कहते हैं कि/तुम्हारी मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता तो क्या विश्व में जितने महासमर होते है... असंख्य लोगों को लील जाने वाली दुर्घटनाएं होती हैं/इन सबमें तुम्हारी मर्जी है क्या?

तब तो यही कहना पड़ेगा कि/तुमने भयानक खेल देखने के लिए यह दुनिया बनाई है/ सब कुछ देखते हुए/ऊपर बैठे हँस रहे होते हो।

भारतीय मनीषा की परंपरा में आचार्य रामदरश मिश्र प्रतिष्ठित हैं। उनका शरीर कभी कभार दर्द के माध्यम से उम्र को स्मरण कर देता है किंतु उनके भीतर का बच्चा क्या करता है?

''मेरे भीतर एक बच्चा है
जो मुझे बूढ़ा नहीं होने देता
शरम तो आपको आनी चाहिए
कि जवानी में ही बूढ़े हो गए हैं
हँसना खिलखिलाना छोड़कर
न जाने उदासी की
किस दुनिया में खो गए हैं।''

इस उम्र में भी मिश्र जी उदासी की कुछ असली, कुछ नकली दुनिया में खोकर अपने को सबका भाग्य-विधाता मानने वाले महानों से कहते हैं-

''आप किसी को कुछ दीजिए
या न दीजिए
मगर राह में भटके हुए लोगों को
आवाज देते रहिए
ताकि अलग-अलग हो गए लोग
साथ-साथ चलने लगें।''

जातस्यहि ध्रुवोमृत्युः जो जनमा है, उसे जाना तो है ही। मिश्र जी अपने जाने को यो देखते हैं -

जब मैं यहां से जाऊंगा/तब पता नहीं कहां हूंगा
यदि आत्मा अमर है/तो यहां से जाने के बाद भी मैं यहीं रहूंगा
अपने इस देश की छवियां प्रतिबिंबित
होती रहेंगी मुझमें
जिसकी हवाएं मेरी सांस बनती रही हैं
मुझमें झिलमिलाता रहेगा वह गांव/
जहां मैंने आँखें खोली
जहां की मिट्टी ने मेरे जीवन-रंग गढ़े...
चमकते रहेंगे वे शहर/जिनमें मेरी शैक्षिक
साहित्यिक यात्राएं चलती रही हैं/...गूंजती रहेंगी
परिवार और मित्रों की आवाजें
जो पहले चले गए हैं/उन्हें वहां खोजूंगा
जो यहां बचे हुए हैं उनपर आशीष ढरकाऊंगा

पति की कर्मठता, तेजी, सर्जनात्मकता और साहस के बूते अपनी सर्जना में खोए रहने वाले पति कृतज्ञ प्रणय क्या बोलता है?

यदि सरस्वती जी मुझसे पहले चली गई
तो उन्हें कहीं न कहीं पा ही लूंगा
वे भी तो मुझे कहीं से देख रही होंगी
दूसरा विकल्प भी उनके सामने स्पष्ट है।
यदि पहले मैं गया/तो वहीं से इन्हें देखता रहूंगा
और आता-जाता रहूंगा इनके सपनों में।

'इनके' सर्वनाम की व्यंजना बताती है कि अपनी प्रसन्न कल्पना में जाने की बात सोचकर कविता में उतारते समय कवि की 'ये' पास में ही बैठी है। तभी 'इनके' सपनों में आनेजाने की पुलकित आश्वस्ति धरती के रूप, रस, गंध, स्पर्श भरे जीवन को प्यार करने वाले लोग अंतरिक्ष में कहीं अप्सराओं वाले स्वर्ग की कामना नहीं करते, इसी जीव को स्वर्ग बताते रहते हैं।

बादल छायावादी कवियों का प्रिय वर्ण्य-विषय रहा है। महादेवी वर्मा की पहचान ही 'नीरभरी दुख की बदली' से बनती है। सुमित्रनंदन पंत 'बादल' कविता अपनी मुक्त उड़ान शैली जैसे विश्व प्रसिद्ध रोमैंटिक कवि की इस शीर्षक वाली कविता के समकक्ष मानी जाती है। निराला की 'बादल-राग' शृंखला की कविताएं पौरुष की हुंकार और लघु-प्राणों की उन्मुक्त उड़ान साथ-साथ भरती हैं।

उम्र के दसवें दशक के कवि के
'बादल' क्या कहते हैं?
बादल समुद्र का खारा जल लेकर
उड़ते हैं आकाश में
और उसे अपनेपन के स्पर्श से मीठा कर देते हैं
फिर वह जल बरसाते हैं यहां से वहां तक
प्यासी धरती हरी-भरी और गीतमय हो जाती है
मनुष्य, पशु, पक्षी सभी में
यह जल जीवन बन जाता है
बादल नदियों के द्वारा वह जल
सागर को लौटा देते हैं
और खुद खाली हो जाते हैं
सच्चे कवि हैं ये बादल।

संसार का सारा खारापन लेकर कवि अपने संवेदन-स्पर्श से अमृतोपम बनाकर जगती को लौटाता है। पृथ्वी पर जीवन को लहलहा कर स्वयं को रिक्त करता रहता है। प्रकृति का नियम है रीतना और भरना।

स्वार्थांध मनुष्य सिर्फ अपने को भरते रहने की हवस में कभी रीतता ही नहीं और जिसने परम के लिए अपने को रीता नहीं किया, वह भरेगा कैसे? सच्चे कवि तो बादल ही हैं।

मिश्रजी को पूजा-पाठ, तीर्थव्रत करते कभी नहीं देखा गया। उनकी आस्था उनकी आत्मा की आवाज में व्यक्त होती है-

ईश्वर ने अपना नाम जपने के लिए
मुझे अपने से अलग नहीं किया है
वह कोई राजा, नेता, अफसर नहीं है
जिसकी खुशामद में उसका गुण गाया जाय
उसने तुम्हें भेजा है कि
तुम विवेकपूर्वक
कर्म-मय जीवन पथ पर चलते रहो
प्रकृति और मनुष्य की छवियों में
उसकी छवि देखो
लोगों को प्यार करो तो लगे कि
ईश्वर हँस रहा है
लोगों के आँसुओं को अपने दामन से पोंछो
तो लगे कि ईश्वर तुम पर दुआ बरसा रहा है
किसी के अँधेरे घर में
एक चिराग जलाकर रख आओ
तो लगे तुम्हारे भीतर सूर्य उग आया है

आजकल एक बहस गरमाती रहती है कि सामाजिक बदलाव में कविता की क्या भूमिका हो सकती है। अति उत्साही कविता को हथियार बनाने को आतुर है। मिश्र जी को 'स्वप्न कथा' कविता की शक्ति और सीमा दोनों बताती है। रात सपने में मेरे पास। भयानक चेहरे वाला एक व्यक्ति आया...उसने तेज स्वर में मुझसे पूछा-तुम मेरे खिलाफ कविता क्यों लिखते हो?

कभी हाथी, कभी घोड़ा बन बनकर दर्दांत कवि का पीछा करता रहा। जंगल में कवि को एक आवाज सुनाई पड़ी-

'डरो नहीं, उससे लड़ो/हम तुम्हारे साथ हैं'
देखते-देखते ढेर सारे लोग खड़े हो गए
और उसपर टूट पड़े
वह ढेर हो गया
भीड़ का मुखियानुमा व्यक्ति बोला-
ये कविता से नहीं मरते
इन्हें समूह में होकर मारना पड़ता है
मैंने कहा-हां, लेकिन
यह उद्विग्न तो कविता से ही हुआ था न।

बहुत विनम्रता लेकिन अद्‌भुत दृढ़ता के साथ यहां आततायी के विरुद्ध कविता की अचूक शक्ति का रेखांकन कर दिया गया है-

रामदरश मिश्र बिलकुल सरदार भगत सिंह के तीखे तेवर में ईश्वर से संवाद करते हैं।
''तुम्हारा नाम जपने वाले
कहते हैं कि
तुम्हारी मर्जी के बिना
पत्ता भी नहीं हिलता
तो क्या विश्व में जितने
महासमर होते है
...असंख्य लोगों को लील
जाने वाली दुर्घटनाएं होती हैं
इन सबमें तुम्हारी मर्जी है क्या?
तब तो यही कहना पड़ेगा कि
तुमने भयानक खेल देखने के
लिए यह दुनिया बनाई है
सब कुछ देखते हुए
ऊपर बैठे हँस रहे होते हो।''

महाप्रयाण की वेला में कबीर की 'चादर' को अपने निजी रंग में रचते हैं कविवर-

कबीर दादा/तुम बहुत चमत्कारी थे
अपनी चादर कभी मैली नहीं होने दी
अंत में ज्यों की त्यों उतार दी
मैं अपनी क्या कहूं दादा
मेरे पास तो एक ही चादर है
उसे ही ओढ़ता-बिछाता
खेत में निकलता हूं तो
खेत की मिट्टी लग जाती है
बरसात में वह कीचड़ से सन जाती है
धूल भरी हवा चलती है
तो वह धूल से पट जाती है
फागुन में कीचड़ और रंग
आकर गिरते हैं इसपर
इसी में तरह-तरह के सामान बांधकर
घर लाता हूं तो उनके दाग पड़ जाते हैं
मेरे पास ज्यादा साबुन भी नहीं कि इसे धोता रहूं
अब तो यह इधर-उधर से फट रही है
माफ करना दादा
मैं अपनी चादर ज्यों की त्यों नहीं धर सका।

परंपरा का प्रत्याख्यान नहीं है यह। उसका सहज विकास है। कबीर का लक्ष्य था इस असार संसार से छूटकर अपने राम में मिल जाना। आज का संवेदनशील व्यक्ति, विशेषतः सर्जनात्मक व्यक्ति, अकेले अपने मुक्त होने को स्वीकार नहीं करता। सबको उनकी मैली कुचैली चादरों में भूख, रोग और अशिक्षा से मुक्त कराने में ही अपनी मुक्ति मानता है।

भारतीय मनीषा की इसी परंपरा में आचार्य रामदरश मिश्र प्रतिष्ठित हैं। उनका शरीर कभी कभार दर्द के माध्यम से उम्र को स्मरण कर देता है किंतु उनके भीतर का बच्चा क्या करता है?

मेरे भीतर एक बच्चा है/
जो मुझे बूढ़ा नहीं होने देता
शरम तो आपको आनी चाहिए/
कि जवानी में ही बूढ़े हो गए हैं
हँसना खिलखिलाना छोड़कर/
न जाने उदासी की किस दुनिया में खो गए हैं।

इस उम्र में भी मिश्रजी उदासी की कुछ असली, कुछ नकली दुनिया में खोकर अपने को सबका भाग्य-विधाता मानने वाले महानों से कहते हैं-

आप किसी को कुछ दीजिए या न दीजिए
मगर राह में भटके हुए लोगों को/
आवाज देते रहिए
ताकि अलग-अलग हो गए लोग/
साथ-साथ चलने लगें
और एक सामूहिक हँसी से/
रास्ता नहाता रहे
मंजिल को भी लगे/
कि उसकी ओर एक कारवां आ रहा है
जिंदगी से भरा हुआ।

रामदरश मिश्र सामूहिक हँसी से रास्ते को नहलाते हुए मंजिल की ओर बढ़े जा रहे हैं, जो शताब्दी तक तो पहुंचेगी ही। अभी उनकी बहुत-सी रचनाएं आने वाली हैं।■

हाशिए का गल्प

रमा नवले

साहित्यकार

संपर्क : 98, माणिक नगर
डॉ. पाटिल हॉस्पिटल के पास
नांदेड-431605 (महाराष्ट्र)

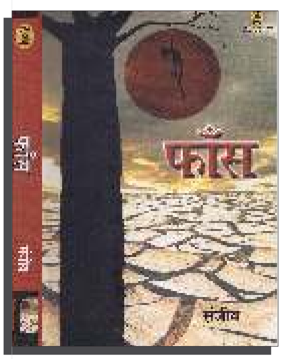

पुस्तक : फांस
लेखक : संजीव
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2016
पृष्ठ : 257
मूल्य : रु. 200

कथाकार संजीव का 'फांस' उपन्यास किसानों को 'फांस' से मुक्ति की राह दिखाने वाला उपन्यास है। वैश्वीकरण ने किसानों के मन को जहां 'बंजर' बनाने की ठान ली है वहीं संजीव किसानों की मूल प्रकृति के अनुसार उनके मन को 'उर्वर' बनाने का संकल्प कर लेते हैं। समस्याओं से भीड़कर तथा उन्हीं समस्याओं को केंद्र में रखकर लिखने की आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया गया यह प्रयास न केवल हिंदी कथा साहित्य के खालीपन को भरता है बल्कि लिखने की एक नई दिशा की ओर भी संकेत करता है। हिंदी में प्रेमचंद के 'गोदान' उपन्यास के बाद किसान जीवन से संबंधित यह सशक्त उपन्यास है। जहां 'गोदान' किसान जीवन का समग्र बिंब प्रस्तुत करता है; वही 'फांस' की मुख्य समस्या किसानों की आत्महत्या है। गोदान का होरी जिंदगी से हारा नहीं है; संजीव ने देखा उनके युग के किसान जिंदगी से हारकर आत्महत्या कर रहें हैं। प्रेमचंद युग और वर्तमान समय में आया यह अंतर लेखक को विचलित करता है। यह शायद पहली बार हुआ है कि संजीव जैसा कोई हिंदी भाषी विदर्भ (महाराष्ट्र) के किसानों की आत्महत्याओं से पीड़ित होकर यहां आकर बस जाता है। इन लोगों के बीच घुलमिल कर उनके जीवन का साक्षी बन जाता है। इन किसानों के दुख और इनकी परेशानियों तथा इनकी पीड़ाओं को भुगतते समय रात-रात भर रोता है। इन परेशानियों पर मात कर जीनेवाले प्रकाश के द्वीपों से भी परिचित कराता है। फास से मुक्ति पाने वाले इन द्वीपों से ही प्रकाश ग्रहण कर 'फास' से मुक्ति की राहें आलोकित करता है। यह उपन्यास महाराष्ट्र के विदर्भ, विशेषकर 'वनगांव' को केंद्र में रखकर यहां का समाज, यहां की मानसिकता, यहां के लोगों की जीवनदृष्टि, किसानों के प्रति लोगों की दृष्टि, यहां की संस्कृति, कृषि के क्षेत्र में यहां किए जानेवाले अनुसंधान, इंजीनियरी, बुद्धिजीवियों के कार्य, सरकारी नीतियां, इन नीतियों के परिणामों की चर्चा करते हुए 'मेंडालेखा' जैसे छोटे पर 'स्वशासित एवं आत्मनिर्भर' गांव का रोल मॉडल प्रस्तुत करता है। इस गांव ने यूरोप-अमेरिका के ज्ञान के गढ़ को तोड़कर और मार्क्सवादी विकल्प छोड़कर एक वैकल्पिक व्यवस्था दी है; जिस व्यवस्था का संबंध स्थानीयता से है।

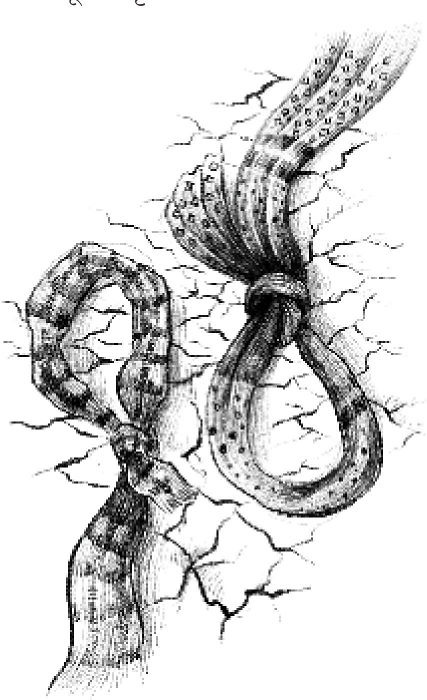

रेखांकन : सोमेश कुमार

'फांस' उपन्यास अपने शीर्षक के अनुसार किसानों के 'फांस' की बात करता है। लेखक ने कहा है कि 1997 से लेकर 2006 के बीच यहां 15000 किसानों ने आत्महत्या की। समूचे देश में यह संख्या 2,50,000 (ढाई लाख) तक पहुंच गई थी। केवल विदर्भ के 11 जिलों में 30,000 किसानों ने आत्महत्या की। 1997 से 2006 के बीच 1,66,304 किसानों ने आत्महत्या की हैं।[1] भारत में किसानों की आत्महत्या का सिलसिला 1990 के बाद शुरू हुआ। इसका अर्थ है ग्लोबलीकरण की नीतियों ने भारत में परंपरागत खेती के तरीके ध्वस्त कर दिए हैं। स्वावलंबी खेती परावलंबी हो गई है। खेती की लागत से समर्थन मूल्य कम होता है। रिपोर्ट में यह भी बताया गया था कि भारत में खेती मानसून पर निर्भर है, किसानों पर ऋण का बोझ है, बैंकों, बिचौलियों, महाजनों के कुचक्र में देश का किसान फंसा हुआ है। इसलिए भारत में आत्महत्याएं हो रही हैं। देश के 40 प्रतिशत किसान खेती छोड़ने के लिए बाध्य हो रहे हैं। सरकार व्यापारियों को नाराज नहीं करना चाहती है। मनमोहन सिंह ने 110 अरब का अनुदान दिया था। किसानों के लिए क्रेडिट कार्ड का प्रारंभ कर कई योजनाएं चलाई थी।

महाराष्ट्र में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में संजीव जी 2011-12 के दौरान

आवासीय लेखक के रूप में कार्यरत थे। उस समय इस संदर्भ में वे जिनसे मिले, उन चालीस लोगों की सूची किताब के प्रारंभ में दी है। उपर्युक्त स्थितियों को ध्यान में रखकर उन्होंने विदर्भ के विभिन्न जिलों की भूमि और भूमि पुत्रों की दशा-दिशा और दुर्दशा देखी। विदर्भ के किसानों के बीच रहकर किसानों की पीड़ाओं का अनुभव किया। सरकारी योजनाओं के परिणामों को परखा और उसके बाद 'फांस' उपन्यास लिखा। उन्होंने खुद संजाल पर बताया है कि उन दिनों वे रात-रात भर सो नहीं पाते थे।

उपन्यास के केंद्र में यवतमाल जिले का 'वनगांव' है। इस गांव की बस्ती मिश्रित है- ब्राह्मण, राजपूत, मराठा तथा मामूली जोत के दलित और पिछड़े यहां रहते हैं। गांव के लोगों का प्रमुख व्यवसाय खेती और जंगल संपत्ति है। यहां किसान के लिए खेती केवल व्यवसाय नहीं, जीने का तरीका है। खेती के साथ उसका मां की तरह रक्त-संबंध का रिश्ता है। किसानीपन उसके खून में हैं। इसलिए खेती करना वह कभी भी छोड़ नहीं सकता। उसकी जीविका का प्रमुख साधन होने के बावजूद खेती उसके लिए उद्योग नहीं है। उद्योग की प्रेरणा एवं उद्देश्य पैसा कमाना होता है। इस औद्योगिक दृष्टि का अभाव भारत के किसानों में है। 1991 के बाद वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने भारत के संसाधनों, खास कर जल-जंगल-जमीन और यहां की खनिज संपत्ति में रुचि रखनेवाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने कृषि जीवन को ध्वस्त कर दिया। भारत की कृषि नीति को विदेश नीति ने प्रभावित एवं नियंत्रित किया। अपने देश में किसानों के लिए कई योजनाएं मुहैया करानेवाले अमेरिका जैसे राष्ट्र ने अपने देश में किसानों के लिए एक नीति और भारत के किसानों के लिए दूसरी नीति चलाई। वैश्विक नीति तीसरी दुनिया के देशों के स्थानीय उद्योगों को खत्म कर वहाँ के लोगों को पूरी तरह से परावलंबी बनाने की थी। इसलिए खेती के क्षेत्र में नीति विदेशी, बीज विदेशी, खाद और रासायनिक दवाइयां विदेशी। इसका परिणाम किसानों का जीवन को भुगतना पड़ा। बीज नपुंसक निकला, रासायनिक खाद एवं दवाइयों की कीमतें आसमान छूने लगी। पहले ही कर्ज में डूबा और आसमानी संकट में फंसा किसान और बदहाली में जीने लगा।

हिंदी में प्रेमचंद के 'गोदान' उपन्यास के बाद किसान जीवन से संबंधित यह सशक्त उपन्यास है। जहां 'गोदान' किसान जीवन का समग्र बिंब प्रस्तुत करता है; वहीं 'फांस' की मुख्य समस्या किसानों की आत्महत्या है। गोदान का होरी जिंदगी से हारा नहीं है; संजीव ने देखा उनके युग के किसान जिंदगी से हारकर आत्महत्या कर रहे हैं। प्रेमचंद युग और वर्तमान समय में आया यह अंतर लेखक को विचलित करता है।

दूसरी ओर किसानों के प्रति देखने का नजरिया भी बदलने लगा। प्रेमचंद ने किसान एवं किसानी के प्रति सम्मान का भाव व्यक्त किया था। इसका अर्थ है उस युग में किसान होना एवं खेती करना सम्मानजनक होता था। वर्तमान समय में इस दृष्टि में परिवर्तन आया है। वैश्वीकरण की भौतिक चमक-दमक ने आदमी से अधिक चीजों को मूल्यवान बनाया है। परिणाम सादगी और भौतिक अभावों में जीने वाले किसान के प्रति लोग उपेक्षा एवं तिरस्कार से देखने लगे हैं। खेती करनेवाले से कोई ब्याह तक करने के लिए तैयार नहीं है। हमारी शिक्षा नीति भी किसानों की उपेक्षा ही कर रही है- ''जो पढ़ाई खेती से घृणा करना सिखाए, स्वार्थी बनाए, वैसी पढ़ाई को चूल्हें में न डालूं।'' (पृ. 41) भारत का किसान उपेक्षित एवं तिरस्कृत बन गया है। भारत में आदमी कुछ भी बने पर किसान न बने यह धारणा पनपने लगी। बुद्धिजीवी इसी प्रकार की सलाह देने लगे हैं (पृ. 114)। इसके बावजूद भारत का किसान खेती नहीं छोड़ रहा है। यह उपन्यास किसान और खेती के संबंधों को और अधिक दृढ़ बनाता है। इसलिए शिबू खेती नहीं छोड़ता, विजयेंद्र खेती में करिअर बनाना चाहता है, सुनील वाघमारे इतना भावुक है कि मजबूरी में 500 रु. अधिक पाने के लालच में कसाई को अपना बैल बेच देता है और पूरी जिंदगी इसका प्रायश्चित्त करते रहता है, पति की आत्महत्या के बावजूद शकून खेती से संबंध तोड़ नहीं पाती, कला अपने ही गांव में रहकर खेती के क्षेत्र में अनुसंधान करना चाहती है, रामजी खोब्रागडे के पिता आत्महत्या करने के बावजूद एच.एम.टी. धान का अनुसंधान कर राष्ट्रीय पुरस्कार पाते हैं। 1997 से 2006 के बीच विदर्भ में सर्वाधिक किसान आत्महत्याएं होने के बावजूद आत्महत्या के कारणों का पता लगाकर फिर से खेती के साथ संबंध स्थापित करने का इस गांव का प्रयास इसी बात का परिचायक है। यह आस्था का स्वर संपूर्ण उपन्यास में व्याप्त है।

किसानों की आत्महत्या पर विचार करते समय संजीव किसानों की आत्महत्या के बीज यहां की सामाजिक संरचना में पाते हैं। उनकी दृष्टि में खेती के साथ लगाव रखने वाले दलित और आदिवासी किसान हैं। गोदान में भी होरी का खेती के साथ जितना आत्मीय संबंध है उतना दातादीन, मातादीन का नहीं है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'अशोक के फूल' नामक

निबंध में अपने शोध द्वारा यह बताने की कोशिश की है कि यहां की गंधर्व, निषाद, किन्नर, नाग आदि उपेक्षित जातियां, इसलिए उपेक्षित हो गई कि वे जमीन के राज को एवं उन्नत किसानी से परिचित थे। किशन पटनायक विकास के मार्क्सवादी ढांचे को नकारकर यह बताना चाहते हैं कि- ''मौजूदा किसान आंदोलन पिछड़ी जातियों के आंदोलन का ही एक विस्तार है।''[2] ''भारत में आर्थिक संघर्ष या तो सामाजिक संघर्ष के साथ-साथ आएगा या उसके बाद। मसलन् हरिजनों और भूमिहीनों के आंदोलन द्विस्तरीय विद्रोह है : एक तो सामाजिक दमन-उत्पीड़न के खिलाफ, दूसरे आर्थिक शोषण के खिलाफ।[3] इस तथ्य को हम फांस उपन्यास में पाते हैं - मेंडालेखा के आदिवासियों ने सामाजिक और आर्थिक उत्पीड़न का दमन कर अपने एक सामाजिक ढांचे को विकसित किया है। स्वशासन और स्वावलंबन से निर्मित यह ढांचा संपूर्ण स्वदेशी है। इस उपन्यास के माध्यम से संजीव ने कुछ नए तथ्यों की ओर संकेत करने का प्रयास किया है। उनकी पहली स्थापना यह है कि, आत्महत्या करने वाले कुनबी मराठा है, आदिवासी, दलित या उच्च वर्णीय ब्राह्मण नहीं। चाहे ब्राह्मण हो या मराठा कुनबी; संजीव दोनों की आत्महत्या का दूसरा महत्वपूर्ण कारण 'महानता के बोझ' को स्वीकारते हैं। ब्राह्मण वर्णीय अहंकार में डूबा है तो मराठा संपन्नता के बोझ से दबा है। (पृ. 71) बात स्पष्ट है कि लेखक ने जिस तर्क के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है वह वास्तविक लगता है। फिलहाल पूरे महाराष्ट्र में अभी अभी मराठा समाज ने आरक्षण की प्रमुख मांग के साथ अन्य मांगों के लिए काफी बड़े पैमाने पर बहुत शांतिपूर्ण और अनुशासित ढंग से अपने आंदोलन का परिचय दिया है। क्या ये आंदोलनकर्ता संजीव की इस बात पर भी विचार कर सकते हैं? सरकार भी इनके लिए नीति निर्धारण करते समय इन स्थितियों पर गौर कर सकती हैं? सच्चाई की तह तक जाने का प्रयास किया जा सकता है।

उपन्यास के केंद्र में विदर्भ के यवतमाल जिले का 'वनगांव' है। इस गांव की बस्ती मिश्रित है। ब्राहमण, राजपूत, मराठा तथा मामूली जोत के दलित और पिछड़े यहां रहते हैं। गांव के लोगों का प्रमुख व्यवसाय खेती और जंगल संपत्ति है। यहां किसान के लिए खेती केवल व्यवसाय नहीं, जीने का तरीका है। खेती के साथ उसका मां की तरह रक्त-संबंध का रिश्ता है। किसानीपन उसके खून में हैं। इसलिए खेती करना वह कभी भी छोड़ नहीं सकता। उसकी जीविका का प्रमुख साधन होने के बावजूद खेती उसके लिए उद्योग नहीं है।

एक साहित्यकार की प्रतिबद्धता समाज के सच से वाकिफ कराना है। इसके विपरीत धान में अनुसंधान कर एच.एम.टी. सोना के आविष्कारक नांदेड के रामजी खोब्रागडे दलित हैं। तीसरी कक्षा उत्तीर्ण इस दलित किसान ने आर्किमिडीज के सिद्धांत के अनुसार कि-'तुम मुझे जगह दो, मैं दुनिया को खिसका दूंगा'- के आधार पर अपना वजूद दिखा ही दिया है। उनके आविष्कार को दलित होने के कारण नजरअंदाज किया जाता है। अनुसंधान के संदर्भ में भेदभाव की यह नीति केवल भारत में ही नहीं है संपूर्ण विश्व में है। संजीव इस ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि सारे किसान अपनी जातीय पहचान को मिटाकर 'किसानवाली पहचान' बनाए, बिना किसान आंदोलन, जनांदोलन का रूप ग्रहण नहीं करेगा और ना ही वह दबाव बना पाएगा। किशन पटनायक कहते हैं- ''अजित सिंह की सबसे बड़ी परेशानी यह है कि पश्चिम उत्तर प्रदेश के जाटों ने अपनी जातीय पहचान को किसानवाली पहचान के आगे झुका दिया है।''[4] संजीव जब कहते हैं कि आत्महत्या के बीज यहाँ की सामाजिक संरचना में है; तो शायद वे विदर्भ के किसानों को जातीय पहचान से बाहर निकालकर उन्हें किसानवाली पहचान में तब्दील करना चाहते हैं।

वैश्वीकरण की चमक-दमक से बदली मानसिकता आत्महत्या का तीसरा कारण है। (पृ. 188) चौथी बात संजीव जी को मीडिया से शिकायत है। मीडिया बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लक्ष्य और लाभ को ध्यान में रखकर उन्हीं की जुबानी बोल रहा है और किसान की आत्महत्या एवं दारू पीने की बात का झूठा प्रसार कर रहा है। मीडिया की प्रतिबद्धता समाज के प्रति कम और पैसे के प्रति अधिक दिखाई दे रही है। 'पेड न्यूज' यह शब्द इसी का परिचायक है। बी.टी. कॉटन के संदर्भ में सच्चाई यह है कि इसके बीजों के कारण धरती की उर्वरता खत्म हो गई, इसके साथ मिलीबग नामक कीड़ा अपने साथ बीमारी लेकर आया, पर इस फसल के कारण मोनसेंटो कंपनी को 1600 करोड़ का फायदा हुआ। बिचौलिए और दलाल मालामाल हुए। दूसरी ओर किसानों की बर्बादी हुई। विदर्भ के किसानों की आत्महत्या का चौथा और अत्यंत महत्वपूर्ण कारण बी.टी.कॉटन भी है। बावजूद मीडिया ने असलियत बताने के बजाए बी.टी. कपास की सफलता की बात फैलाई (पृ. 190)। इतनी भयावह परिस्थिति के बावजूद किसानों का यह विश्वास नहीं टूटा कि खेती घाटे का सौदा है। इस संदर्भ में किशन पटनायक का यह मत इस बात की पुष्टि करता है-''भारत के अर्थशास्त्र में अभी तक इस बात को मान्यता नहीं मिली है कि 'खेती एक घाटे का धंधा' है।''[5] फांस में भी यह आस्था का स्वर है।

इन आत्महत्याग्रस्त किसानों एवं उनके परिवारों के लिए सरकार द्वारा राहत पैकेज और कर्जमाफी की योजनाएं लाई गई। इन योजनाओं के परिणामों का संजीव जी बड़ा दर्दनाक चित्र हमारे सामने उभारते हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि प्रश्न विदर्भ के और योजनाएं दिल्ली में बैठकर बनाई गई। परिणाम विदर्भ में योजनाएं आई पर विदर्भ और अधिक सूखता और झुलसता रहा। खेती के लिए विकल्प के रूप में 'मनमोहनी गाए' आई। यह गाय अपने देश की नहीं, इसके चारे का प्रश्न, जो दूध देगी उसके वितरण की व्यवस्था नहीं, यहां के वातावरण में उसके जिंदा रहने पर ही प्रश्न। लेखक विदेशी बीज, विदेशी कर्ज, विदेशी गाय, विदेशी नीति पर प्रहार करते हुए मनमोहन सिंह की गाय कैसे महंगी पड़ी इसका जीवंत बिंब प्रस्तुत करते हैं। सरकार की कर्जमाफी की योजना भी आत्महत्याग्रस्त किसानों तक पहुंचने में कामयाब नहीं हुई। कर्जमाफी उन्हीं को मिली जिसने सरकारी बैंकों से कर्ज लिया था। पहली बात तो यह है कि सरकारी बैंकों से कर्जा लेनेवाले कम और साहूकार और महाजनों से कर्ज लेनेवाले अधिक होते हैं। दूसरी बात जिन्होंने सरकारी बैंकों से कर्जा लिया उनके भी आवेदन पत्र दस्तखत के निमित्त ग्रामसभा सदस्य और सरपंच के पास अटक गए। तीसरी बात कर्ज के कारण किसान ने आत्महत्या की यह बात सिद्ध होना अर्थात् पात्र होना जरुरी था। परिणाम कई किसानों ने सामूहिक आत्महत्या का निर्णय लेना शुरू किया। फिर भी सरकार पसीजी नहीं। यह विडंबना ही है कि किसान आत्महत्या करने के पहले आत्महत्या नोट कैसे लिखी जाए और इस आत्महत्या नोट में किन-किन बातों को शामिल करने का ख्याल रखा जाए इसकी जानकारी सरकार से चाह रहे हैं। सरकार यह मानकर चल रही है कि किसान आत्महत्या करेंगे ही ठीक स्वीट्जरलैंड के किसानों की तरह। वहां तो आत्महत्या के तरीकों की जानकारी भी सरकार पूछती है। आत्महत्या से परावृत्त करने के बजाए आत्महत्या पर बात करना? कितना अमानवीय? कैसा संवेदनहीन माहौल? कैसी संवेदनहीन सरकार? उपन्यास पढ़ते समय दिमाग सुन्न हो जाता है। सोचना बंद हो जाता है और सरकार नई योजना अमल में लाती है, पोस्टमार्टम के दरवाजे 24 घंटे खुले रखे जाएं... इन किसानों के जीवन की भयावहता और कैसे चित्रित हो सकती है? फांस से मृत्यु एक बार मिलती है, यह फांस रोज मरने की यातना देता है।... संजीव ने सरकारी नीतियों की धज्जियां उड़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

बी.टी. कॉटन के संदर्भ में सच्चाई यह है कि इसके बीजों के कारण धरती की उर्वरता खत्म हो गई, इसके साथ मिलीबग नामक कीड़ा अपने साथ बीमारी लेकर आया, पर इस फसल के कारण मोनसेंटो कंपनी को 1600 करोड़ का फायदा हुआ। बिचौलिए और दलाल मालामाल हुए। दूसरी ओर किसानों की बर्बादी हुई। विदर्भ के किसानों की आत्महत्या का चौथा और अत्यंत महत्वपूर्ण कारण बी.टी.कॉटन भी है। बावजूद मीडिया ने असलियत बताने के बजाए बी.टी. कपास की सफलता की बात फैलाई।

किसानों की उपरोक्त समस्याओं से निजात पाने के मार्ग संजीव ढूंढ रहे हैं। ऐसे समय में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं किए गए अनुसंधान के निष्कर्ष बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। शिक्षा अपनी जमीन से उपजकर अंतरराष्ट्रीय छोरों को छूती है। कृषि के क्षेत्र में अनुसंधान के लिए आवश्यक है कृषि के साथ नाता। कृषि विश्वविद्यालयों, अनुसंधानकर्ताओं और किसानों का साथ। समय-समय पर निभाई जानेवाली बुद्धिजीवियों की प्रामाणिक भूमिका। संजीव ने इस प्रकार की व्यवस्था विजयेंद्र तथा उनके जैसे बुद्धिजीवी के माध्यम से विदर्भ में दिखाने का प्रयास किया है। संजीव अनुसंधान का संबंध बुद्धिजीवियों के साथ-साथ अनुभव से जोड़ते हुए (तीसरी पास रामजी खोब्रागडे) इस प्रकार के अनुसंधान को विश्वविद्यालयीन स्वीकृति तथा सरकार द्वारा अनुदान दिलाने की आवश्यकता की ओर भी संकेत करते हैं। तीसरा प्रयास 'मंथन' का है। चौथा प्रयास सुभाष पालेकर का है। हमारी शिक्षा व्यवस्था ज्ञान और तकनीक को एक मानती है। पश्चिम की शिक्षा नीति के इस ढांचे को संजीव ने तोड़ दिया है। वे ज्ञान और तकनीक को अलग कर देते हैं। संजीव ने जंगल और जमीन के प्रश्नों को सुलझाने के क्षेत्रीय उपाय का रोल मॉडल इस उपन्यास के माध्यम से पाठकों के सामने रखा है। इसीलिए कहा जा सकता है कि 'फांस', किसानों को 'फांस' से मुक्ति की राह की ओर ले जानेवाला उपन्यास है। मेंडालेखा का नारा 'बांस बचाओ-जंगल बचाओ-मानुष बचाओ' है। उनकी प्रशासन की पद्धति- ''दिल्ली बंबई में हमारी सरकार, हमारे गांव में हम ही सरकार'' वाली है। यह गांव, ''जहां कोई मंदिर नहीं, जाति नहीं, जंगल पर सबका समान अधिकार। बांस के वन और वर्षों पुराने पेड़ों से भरा मेंडालेखा'' (पृ. 11) कोई सरकारी योजना नहीं; क्योंकि यह गांव यह मानकर चलता है कि देनेवाले का हाथ हमेशा ऊपर रहता है और लेनेवाले का हमेशा नीचे। फिर भी इस गांव में किसी भी किसान ने आत्महत्या नहीं की। जंगल उनका आधार है और बांस उसका मेरुदंड। डैम, कच्चा रास्ता, भवन सब इन्होंने ही बनाया है। इस गांव की सबसे बड़ी विशेषता 'इंटरनेट कनेक्टिविटी' है। इनसे बात करनी है तो उन्हीं की भाषा में बात करनी होती है। मजेदार बात यह है कि जिन

आदिवासियों को हम पिछड़ा कहते हैं वे आदिवासी दक्षिण अफ्रीका में भाषण देने जाते हैं। इनके आइकॉन तोपाजी, खोब्रागडे, हीरालाल, बाबा आमटे, बहुगुणा, शर्मा आदि हैं। यह सब 'स्वराज' और 'स्वशासन' के कारण संभव हुआ। स्थानीय व्यक्ति संत गाडगे बाबा तथा तुकड़ोजी महाराज के विचारों से प्रभावित हैं। ग्राम समाज मालिक है।

'फांस' उपन्यास के केंद्र में विदर्भ एवं वहां का जनजीवन होने से इस उपन्यास में चरित्र प्रमुख नहीं है। लेकिन कई चरित्र प्रभावी बिंब के रूप में उभरकर आए हैं। इस उपन्यास में कला, शिबू, शकुन, सुनील काका, विजयेंद्र, मोहनदास बाघमारे, नाना बापटकर, अशोक, शुभा और रामजी खोब्रागडे आदि चरित्र अपनी पहचान बनाते हैं। कला को 'हिंदी कथा साहित्य की वैचारिक साझेदारी की मांग करनेवाली पहली दलित स्त्री' कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। उसका रूप, लावण्य, तेज, ताकत, निर्भीकता, मेच्योरिटी, विश्वास पाठकों को बरबस आकृष्ट कर लेता है। पढ़ना तो बहुत चाहती है; पर समाज में लड़की के चाहने से क्या होता है? उसकी दोस्ती अशोक के साथ है, दोस्ती का कारण केवल स्त्री-पुरुष आकर्षण नहीं है; बल्कि एक वैचारिक साझेदारी है। लड़का मराठा और लड़की मेहतर कन्या। साथ टूटना ही था। सुहागरात के दिन ही अपने पति से यह कहकर -'पढ़ने और आगे बढ़ने से उसे कभी न रोका जाए' का वचन लेती है। बेफाम होकर जीती है और अपने को झोंककर काम करती है। बार-बार समाज द्वारा दिए गए ताने कला को बेचैन करते हैं- ''तेजाब की बूंद-बूंद बनकर गिरती और गलती रही मेरे बाप की मौत। मुझे उस फांस से उबरना था और इस फांस से भी। मैं चली आई उन लक्ष्मण रेखाओं का अतिक्रमण कर'' (पृ. 166) स्पष्ट है- यहां एक फांस किसानों का है, एक दूसरा फांस स्त्रियों की इस घुटन का है। दर्द की कई पर्तें; जिसमें एक ओर अशोक के लिए तरसते मन-प्राण, बिना वजह समाज के ताने (पिता, अशोक और जीवन के कारण तथा अच्छे कार्य के कारण भी), ससुराल में जलील किया जाना-यह सब कला क्यों सहे? एक स्त्री होने के कारण ही? संजीव इस अमूर्त फांस की भी बात करते हैं। कला इस फांस से मुक्ति पाती है। रामजी खोब्रागडे, 'मजदूर से किसान' बनने का मार्ग इन्हीं से जाता है। खाद, मिट्टी, पानी और हाथ के बदलाव से पौधे की परवरिश में आनेवाले परिवर्तनों को देखते-देखते एच.एम.टी. धान का आविष्कार वे करते हैं। विजयेंद्र और कला-दोनों भी आत्महत्या करनेवाले किसानों की संतान हैं। दोनों के भी पीछे इस आत्महत्या का साया; जो कभी पीछा नहीं छोड़ता। वह डॉक्टर, इंजीनियर बनने के बजाए कृषि में कैरियर बनाना चाहता है।

भारत में महाराष्ट्र विकसित राज्य है; परंतु विदर्भ और मराठवाड़ा इसके पिछड़े हिस्से हैं। यह उपन्यास विदर्भ के भूगोल एवं संस्कृति से परिचित कराता है, किसानों की भाषा बोलता है। इसमें मराठी भाषा के मूल शब्द जैसे के वैसे रखकर नीचे उसके अर्थ दिए गए हैं। एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में ले जाने का यह तरीका बहुत प्रभावी है। महाराष्ट्र में किसानों के लिए नीति निर्धारण करते समय, खास कर विदर्भ में, तथा वहां के लोगों की मानसिकता का अध्ययन करते समय, यह उपन्यास निश्चित ही दिशा दर्शक हो सकता है। ■

संदर्भ सूची :

1. संजाल के आधार पर
2. किसान आंदोलन : दशा और दिशा, किशन पटनायक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण : 2006, पहली आवृत्ति : 2009, पृ. 32
3. वही, पृ. 32
4. वही, पृ. 43
5. किसान आंदोलन : दशा और दिशा, किशन पटनायक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण : 2006, पहली आवृत्ति : 2009

मिथिला की स्त्री

■ **संजय कुमार**
मीडियाविद् और दलित चिंतक

संपर्क : 303, दिगंबर प्लेस,
(देव इमेजिंग के उपर),
लोहिया नगर, कंकड़बाग,
पटना-800020 (बिहार)

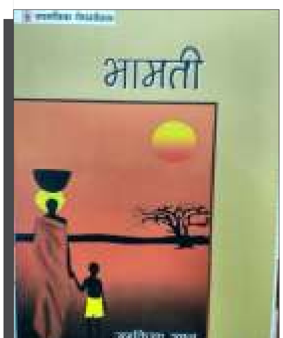

पुस्तक : भामती
लेखिका : उषाकिरण खान
प्रकाशक : सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 192
मूल्य : रु. 200

चर्चित लेखिका उषाकिरण खान ने अपनी सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'भामती' को हिंदी के पाठकों के बीच लाकर 'भामती' के मूल रचयिता और मैथिली के विद्वान पंडित वाचस्पति मिश्र को उनकी रचना के साथ जीवंत करने का प्रयास किया है।

भारत और नेपाल सीमा के पास मधुबनी के अंधराठाढी गांव निवासी पंडित वाचस्पति मिश्र का जन्म दसवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ था। उन्होंने आठ पुस्तकें लिखीं हैं। इनमें 'भामती-टीका' ने उन्हें रचना संसार के शिखर पर बैठा दिया। वाचस्पति मिश्र देश के चर्चित दार्शनिक थे। इन्होंने वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी पांचों आस्तिक दर्शनों पर टीका लिखी है। इनकी एक कृति का नाम उनकी पत्नी भामती के नाम पर रखा है। वाचस्पति मिश्र ने हिंदुओं के लगभग सभी प्रमुख दार्शनिक संप्रदायों की प्रमुख कृतियों पर भाष्य लिखें हैं।

रेखांकन : सोमेश कुमार

जहां तक भामती-टीका का सवाल है तो इसे लेकर कल्पना के ताने बाने में जब वे लगे थे उन्हीं दिनों उनका विवाह संस्कार भी हुआ। इधर घर में धर्मपत्नी ने प्रवेश किया उधर पंडित जी ने भाष्य प्रारंभ किया। धीरे-धीरे पंडित जी भाष्य लिखने में डूबते चले गए। ग्रंथ में वे ऐसे डूबे कि सबकुछ भूल गए, यहां तक की अपनी पत्नी को भी।

भामती की लेखिका उषाकिरण खान कहती हैं कि इस अविस्मरणीय प्रेम कथा को मैंने मूल रूप में मैथिली में लिखा है और इसे मैंने स्वयं ही हिंदी अनुवाद किया है। यह उपन्यास मिथिला के मीमांसक, अद्वैत दर्शन के टीकाकार पंडित वाचस्पति मिश्र के जीवन पर आधारित है। उषाकिरण खान की पकड़ हिंदी रचना साहित्य पर भी है। मैथिली से हिंदी में 'भामती' का रेखांकन अद्भुत है। जो तस्वीर भामती की है यह कह सकते हैं कि इसके मूल स्वरूप को जीवंत रखने में लेखिका कामयाब हुई है। भामती का सबसे रोचक और मार्मिक पक्ष इसका नामकरण है। पंडित वाचस्पति मिश्र जब ग्रंथ में लीन हो गए तब भामती भी उनकी सेवा में लीन हो गई। 18 साल तक पंडित वाचस्पति मिश्र ग्रंथ लेखन में लीन रहे। जब ग्रंथ पूरी हुई तब उन्होंने देखा कि एक अधेड़ महिला दीप प्रज्ज्वलित कर रही है। उन्होंने उनसे पूछा आप, कौन हैं? भामती ने कहा मैं आपकी पत्नी हूं। तब उन्हें याद आया कि उन्होंने विवाह-द्विरागमन कराके भामती के साथ गृह प्रवेश किया था। भामती के आँखों में आँसू आ गए। पंडित जी ने उनसे पूछा आप रो क्यों रहीं हैं? तब भामती ने कहा, मैं गत-आयु हो गई हूं। आपकी कुल परंपरा मुझसे नहीं चलेगी। पंडित जी ने कहा संतान, पुत्र से कुल-परंपरा अधिक दिनों तक नहीं चलती। कभी-न-कभी खंडित हो जाती है। मैं आपको यह पुस्तक समर्पित करता हूं जो अक्षुण्ण रहेगी। अपने ग्रंथ का नाम 'भामती-टीका' रख दिया। पति का स्नेह-प्यार पाकर भामती भाव-विभोर हो उठी। पंडित जी से रहा नहीं गया, उन्होंने पूछ ही लिया कि घर-गृहस्थी आखिर कैसे चली। भामती ने कहा कि आप रचना संसार में डूबे थे। मेरा दायित्व था कि आपको किसी तरह की परेशानी नहीं हो। घर चलाने के लिए साधन ढूंढ़ा। जंगल से मूंज काट कर लाती, फिर रस्सी बांट कर बाजार में बेचती थी। जो पैसा मिलता था, उससे हम दोनों के रहन-सहन-खानपान व्यवस्थित होती चलीं आई। भामती को लेकर यह कथा मिथिलांचल में प्रचलित है। जिसे बड़े सम्मान से याद किया जाता है।

हिंदी में 'भामती' को पाठकों के बीच लाने वाली लेखिका उषाकिरण खान ने 'मेरा कहना है' के तहत पुस्तक के बारे में लिखती हैं कि उपन्यास मैंने, भामती और वाचस्पति के अमर अविस्मरणीय प्रेम के धागों से बुना है जिसमें संपूर्ण मिथिला का तत्कालीन समाज और संस्कृति का पुट है, उसके गुण-अवगुण है-मिथिला क्यों शिथिल होती गई। इसकी पीड़ा है। लेखिका की पूरी

भावना भामती में झलकती है। एक तो वे खुद मिथिला से संबद्ध हैं, दूसरी उनकी पकड़ मैथिली और हिंदी भाषा पर है। उषाकिरण खान ने भामती उपन्यास को विद्या और अविद्या खंड में बांटा है जो 192 पृष्ठों में है। हिंदी के साथ-साथ 'भामती' में मैथिली और देसज के साथ-साथ स्थानीय प्रयोग कई शब्द का भी पुट साफ दिखता है।

भामती के पहले खंड 'विद्या' में पंडित वाचस्पति मिश्र के जीवन संघर्ष और ग्रंथ लेखन में लीनता की गाथा है। तो दूसरे खंड में ग्रंथ के पूरा होने के बाद रचना एवं शिक्षाकर्म के साथ-साथ भामती के साथ प्रेमपूर्वक बिताए गए क्षण को पूरे ताने-बाने के साथ लेखिका ने रखा है। भाषा का पूरा ख्याल रखा गया है। प्रेम की भाषा साहित्यिक है। प्रेम शारीरिक कम, श्रम और सेवा भाव से ज्यादा लबरेज है।

बचपन में मां के गुजर जाने के बाद का चित्रण काफी सहजता लिए हुए है। बाल अवस्था में वाचस्पति मिश्र को उनके मामा-मामी अपने घर ले जाना चाहते थे, लेकिन पिता ने दृढ़ स्वर में विरोध किया। उन्हें डर था कि वाचस्पति मिश्र अगर अपने मामा-मामी के पास चले गए तो वे वहां ऐशोआराम से प्रभावित होकर मीमांसा और दर्शन से दूर हो जाएंगे। पंडित वाचस्पति मिश्र के पिता को ग्रामीणों का भरपूर सहयोग का मिलना तत्कालिक ग्रामीण समाज की एकता को भी रेखांकित करता है। उन्होंने गांववालों को कह रखा था कि उन्हें कुछ हो जाए तो वाचस्पति मिश्र को गुरु त्रिलोचनजी के यहां पहुंचा आएंगे। ऐसा ही हुआ। वाचस्पति मिश्र के साथ उनकी बहन की देखरेख का जिम्मा गुरुजी ने अपने कंधों पर ले लिया। आश्रम आने के बाद भी गांव वालों का साथ नहीं छूटा। ग्रामीण उनसे मिलने आते। वाचस्पति मिश्र ने एक पाठशाला भी खोली जिसमें उनके गांव के छात्र भी पढ़ने आने लगे। अचानक एक दिन वाचस्पति मिश्र अपनी बहन सुलक्षणा से बोले, अब मैं पुस्तक पर काम करूंगा। तुम छात्रों को संभालो। गुरु त्रिलोचन ने पाठशाला की जिम्मेदारी अपनी बड़ी बेटी कामा और सुलक्षणा को दे दिया। वाचस्पति मिश्र ने सबसे पहले मंडन मिश्र द्वारा रचित सुविख्यात पुस्तक 'विधि-विवेक' का टीका लिखा। भामती में उस दौर में शिक्षा ग्रहण करने के लिए आने वाली बच्चियों के अपहरण की भी चर्चा और बच्चियों को बचाने के लिए उनका सिंदूर धारण करना यानी बाल विवाह की तस्वीर भी ध्यान खींचती है।

भामती अविस्मरणीय प्रेम कथा है, जिसमें श्रम और सेवा को ही प्रेम शब्द दिया गया है। भामती में गांव, समाज, शिक्षा और साहित्य जीवन को जीवंतता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसमें हिंदी के साथ-साथ मैथिली शब्द की अधिकता के बावजूद सहज तो है लेकिन कहीं-कहीं भाव को समझने में परेशानी भी खड़ी करते हैं। शायद लेखिका का प्रयास भामती के मूल को जीवंत रखना भी है। भामती के बहाने एक महान टीकाकार के साथ महिला सशक्तिकरण को भी जानने का अवसर 'भामती' उपन्यास से मिलता है।

वाचस्पति मिश्र पर केंद्रित भामती उपन्यास के केंद्र में वाचस्पति मिश्र तो हैं ही साथ ही उनके ईद-गिर्द के चरित्रों का ताना-बाना यों कहें कि पूरा परिवेश श्रम व सेवा के प्रेम शब्दों में कैद है। बहन सुलक्षणा, गुरु माता, गुरु की बेटियां, सौदामिनी के साथ पंडित वाचस्पति मिश्र के जीवन से जुड़े तमाम लोगों की भूमिका को भी प्राथमिकता से जगह दी गई है।

मैथिली के चर्चित टीकाकार वाचस्पति मिश्र कुछ हट कर थे। उनकी सोच प्रगतिशीलता को लिए थी। विवाह के प्रसंग से यह प्रकट होता है। लेखिका ने लिखा है कि विवाह को लेकर पंडित वाचस्पति मिश्र के कदम थोड़ा हटकर है। वाचस्पति मिश्र ने विवाह के दौरान कहा, ''मैं गुरुवर त्रिलोचन की कन्या भामा का पाणिग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हूं। दान गुरुवर पितृलोक से करें।'' वाचस्पति के यह कहते वहां मौजूद लोग चकित हो उठे। सवाल उठा, ''क्या यह शास्त्रसम्मत है?'' इस पर वाचस्पति ने कहा, ''शास्त्रसम्मत है। करना तो पाणिग्रहण है। कन्या स्वयं को दान कर रही है। वह सर्वशास्त्र सम्मत है।''...(पृ. 63)। सबने स्वीकारा कि वाचस्पति से ज्यादा शास्त्र यहां कौन जानता है। पाणिग्रहण संस्कार के बाद वाचस्पति ने भामा को विदा करा लिया। आम युवक-युवती के विवाह समारोह से हट कर पंडित वाचस्पति मिश्र और भामती का विवाह रहा। मिथिला परंपरा में कोहबर का खास महत्व है। कोहबर में भामा आई तो मुख दृष्टि हुई। पीसी (बुआ) ने वाचस्पति से कहा, 'कुछ दो बबुआ।' वाचस्पति उठे, ताखे पर से मसिपात्र, लेखनी, भोजपत्र और सीकी की डाली लेकर भामा के हाथों में रख दिया। (पृ. 64)। उपन्यास का यह क्षण सब कुछ कह जाता है। पंडित वाचस्पति मिश्र के अंदर का विद्वान व लेखक मन की सोच भामती को समझने में तनिक देरी नहीं लगी। जान गई कि उसे अपने पति की सेवा कैसे करनी है।

लेखिका ने पंडित वाचस्पति मिश्र के जीवन-यात्रा को सचित्र शब्दों में पिरो दिया है। तो वहीं उनकी सेवा में लीन भामती का चित्रण भी अद्भुत किया है। घर-गृहस्थी को अपने कंधे पर डाले 'भामती', एक सेवक की भूमिका में ही रहीं। पति के लेखन कार्य को अपना प्रेम बनाया। प्रेम को सेवा में तब्दील किया। तभी तो गांव की लड़कियां हो या महिलाएं, भामती पर ताने कसने से बाज नहीं आती। भामती का पंडित वाचस्पति मिश्र के प्रति का समर्पण मिसाल है। दिन-रात सेवा में लगे रहने की तस्वीर लेखिका ने पूरी ईमानदारी से चित्रित किया है। ''सेवा, प्रेम और सर्मपण भाव पर लेखिका लिखती हैं कि, देहरी पर बिछी खाट पर भामती कुत्ते की नींद सोती है बिल्ली की

नींद से जगती है। आँख लगते ही भक से खुल जाती है। दीये की बाती तो जल रही है न! ... भामती का जीवन उस दीपक की बाती के संग बंधा है। नइहर तक जाने का अवकाश कहां।. .. (पृ. 18)।

सच में भामती का चरित्र अपने आप में अद्‍भुत है। शादी के बाद ससुराल आकर वहां रानी-महारानी या बहु बनने के सपने की जगह एक सेविका के तौर पर अपने जीवन को विद्वान पति वाचस्पति के रचना संसार को समर्पित कर दिया। पंडित वाचस्पति मिश्र रचना संसार में गोते लगाते रहे। टीका और ग्रंथ लेखन में रमे रहे। वहीं भामती उनकी सेवा में लीन रही। एक का समर्पण रचना एवं संस्कृति के पोषण के लिए तो दूसरे का समर्पण रचना एवं संस्कृति के पोषण को स्वरूप देने वाले के प्रति। सांसारिक जीवन को भूल, पुस्तक लेखन में डूबे पंडित वाचस्पति मिश्र द्वारा पुस्तक के पूरा करने की यात्रा को लेखिका ने बारीकी से प्रकाश डाला है। पंडित वाचस्पति मिश्र की ख्याति हर दिशा में गूंजने लगी थी।

टीकाकार के रूप में विख्यात पंडित वाचस्पति मिश्र पर शंकराचार्य की टिप्पणी को लेखिका ने स्थान दिया है। शंकराचार्य उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि, ''नट की भांति ब्रह्म अपनी शक्ति से संसार के कारण होते हैं किंतु वाचस्पति संसार का कारण जीवन के भ्रम को कहते हैं।'' लेखिका लिखती हैं कि शंकराचार्य सृष्टि की उत्पत्ति में ब्रह्म की शक्ति का उपयोग मानते हैं। किंतु, वाचस्पति मिश्र सृष्टि की उत्पत्ति के प्रसंग में शंकर के आशय का वर्णन नहीं कर मंडन के आशय का वर्णन करते हैं। लेखिका यह भी बताती हैं कि पुस्तक लेखन समाप्त करते-करते अन्य पुस्तकों का वर्णन करने में भी नहीं चूकते हैं वाचस्पति मिश्र।

आखिर वह क्षण भी आया जब पुस्तक का शीर्षक पर विचार मिश्रजी करने लगे। इसकी चर्चा पुस्तक के दूसरे खंड 'अविद्या', पृ. 131 से शुरू होता है। पुस्तक का नामकरण को लेकर वाचस्पति मिश्र ऊहापोह में थे। लेखिका ने बड़े ही नाटकीय रूप देते हुए घटना क्रम को दृश्यबद्ध किया है। पति-पत्नी के बीच के प्रेम को अचानक उस समय सामने लाई जब टीका के नामकरण को लेकर कलम मसिपात्र की ओर बढ़ाया। दृष्टि लेखनी के साथ दीप की दिशा में मुड़ गई। एक कर्मठ, आयु प्राप्त निराभरण हाथ बाती उकसा रहा था। शून्य में घूमता मिश्रजी का मन, आँखों के साथ उस पर टिक गई। स्मरण करने लगे कौन हो सकता है। महान टीकाकार पंडित वाचस्पति मिश्र के मुंह से निकला, ''सुमुखी, आप कौन हैं?'' आवाज आई- ''भामती आपकी अर्द्धांगिनी स्वामी।'' वाचस्पति मिश्र को याद आया भामती को विवाह कर घर लाए थे। भामती के आँखों में आँसू आए। वाचस्पति मिश्र ने उन्हें उठाया। यह शादी के बाद पहला अवसर था स्पर्श का। पंडित जी ने भामती को बांहों में भर लिया। यह पहला आलिंगन था, पति का पहला स्पर्श। लेखिका ने भामती के प्रौढ़ अवस्था के समय उसके युवती के समय और दायित्व को भी प्रकाश में लाया है। भामती, पंडित वाचस्पति मिश्र के साथ वार्तालाप के दौरान कहती है कि इस अवस्था में वह पुरखों की धारा को अमर नहीं कर पाएगी।

ग्रंथ को स्वीकृति प्रदान करने की परिपाटी को भी भामती में रखा गया है। लेखिका ने राजा और विद्वानों के बीच ग्रंथ के रखे जाने के प्रसंग को सचित्र वर्णन किया है। वाचस्पति मिश्र को राजा नृग के दरबार में आमंत्रण मिला। जब वे सभा में गए तो उन्हें पूरा सम्मान दिया गया। लेकिन उन्होंने राजा के समक्ष प्रार्थना की कि ''अभी मेरा ज्ञान प्रमाणित नहीं हुआ है, अतः पुस्तक का अर्पण वाचन आलोचना एवं शास्त्रार्थ के बाद यह निर्णय लिए जाएं तब तक मैं सभा के सामान्य आसन पर स्थान ग्रहण करूं ऐसी आज्ञा दें।'' राजा ने उनकी बात मान ली। पुस्तक राजा के हाथ में दी। राजा ने, सभा में कहा,' हम विद्वत समुदाय को यह विषद् ब्रह्मसूत्र का भाष्य और उसके ऊपर लिखी- 'भामती टीका' समर्पित करते हैं तथा पाठन एवं प्रश्नोत्तरी का आग्रह करते हैं। और वाचन के लिए वाचस्पति को दी गई। राजसभा ने भामती टीका को सर्वसम्मति से स्वीकृति प्रदान की। राजा ने उन्हें सम्मानित किया और राजधानी में रहने का अग्रह किया। लेकिन वाचस्पति पाठन, लेखन और शांतिपूर्ण विश्राम का हवाला देकर राजा से अनुमति ले ली।

भामती, उपन्यास के बहाने पंडित वाचस्पति मिश्र का पूरा जीवन वृत्तांत हिंदी के पाठकों के लिए है। एक ऐसे रचनाकर्मी को सामने लाया गया है जिसके लिए लेखन ही सब कुछ था और उनके लेखन जीवन को सार्थक बनाने वाली भामती के चरित्र को भी ईमानदारी से लेखिका ने रखा। खासकर खुद पंडित वाचस्पति मिश्र के बात को रखी हैं। वे कहते हैं कि भामा तुम्हारा कार्य मेरे कार्य से बड़ा है। तुम यदि छाया की भांति मेरे साथ लगी न रहती। बकौल लेखिका भामती अविस्मरणीय प्रेम कथा है, जिसमें श्रम और सेवा को ही प्रेम शब्द दिया गया है। भामती में गांव, समाज, शिक्षा और साहित्य जीवन को जीवंतता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसमें हिंदी के साथ-साथ मैथिली शब्द की अधिकता के बावजूद सहज तो है लेकिन कहीं-कहीं भाव को समझने में परेशानी भी खड़ी करते हैं। शायद लेखिका का प्रयास भामती के मूल को जीवंत रखना भी है। भामती के बहाने एक महान टीकाकार के साथ महिला सशक्तिकरण को भी जानने का अवसर 'भामती' उपन्यास से मिलता है। ■

चिंतन के स्वर

■ **श्रीराम परिहार**
ललित निबंधकार

संपर्क : आजाद नगर,
खंडवा-450001 (मध्य प्रदेश)

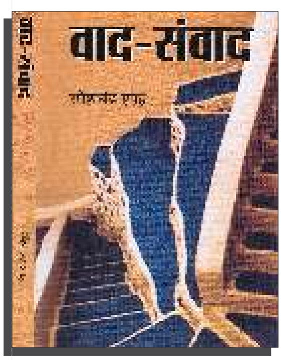

पुस्तक : वाद-संवाद
लेखक : रमेशचंद्र शाह
प्रकाशक : सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 168
मूल्य : रु. 250

रमेशचंद्र शाह की पुस्तक 'वाद-संवाद' भारत की 'आत्मनेय' चेतना की ओर नए सिरे से ध्यान आकर्षित करती है। 'आत्मचेतना' भारतीय समाज-चिंतन की मूल प्रकृति रही है। इसने पराधीनता के अँधेरे में भी भारत को सत्त्व के प्रकाश से आलोकित करते हुए आत्मविश्वास से पूरित रखा। गांधी, अरविंद, विवेकानंद ने जिस परंपरा से स्वयं को समृद्ध करते हुए भारत में नई शक्ति का संचार किया; वह परंपरा संभवतः मनुष्य के विचार और कर्म को सही दिशा देने वाली है। यह पुस्तक जड़ों की ओर लौटने का सुचिंतन है। लोक के वास्तविक और व्यापक अर्थ की ओर ध्यान दिलाते हुए भारतीय संस्कृति की चराचरवादी लोकदृष्टि को स्पष्ट करती है। यह दृष्टि भारतीय दृष्टि को पाश्चात्य दृष्टि से अलग पहचान देती है। पाश्चात्य सभ्यता मानव केंद्रित है। भारतीय सभ्यता समष्टिहित रक्षक है। यह संस्कृति मानव और मानवेतर जगत के परस्पर विरोधी-ध्रुवांतों के सामंजस्य वाली है। जब तक हमारा चिंतन मूल से जुड़ा नहीं होगा; तब तक सांस्कृतिक आत्मविश्वास और सम्यक् आत्मलोचन भी नहीं हो सकता।

सांस्कृतिक आत्मविश्वास ही रचनाकार को सामाजिक दायित्व-बोध देता है। यह बोध अपनी अभिव्यक्ति भाषिक संरचना के माध्यम से ही करता है। श्री शाह लिखते हैं कि भारतीय संस्कृति की चराचरवादी दृष्टि और विरुद्धों का सामंजस्य स्थापित करने वाले दो महाकाव्य-रामायण और महाभारत हैं। वास्तव में ये सत्य और सौंदर्य की मूलगामी प्यास को जगाने वाले महाकाव्य हैं। इनके चरित नायकों में भारतीय जन घने अँधेरे को खुली आँखों से देखने और भेदने की तत्परता और साहस अनुभव करता है और सत्य की गहरी खोज की ओर बढ़ता है। इसलिए लेखक आगाह करता है- ''साहित्यकार का सामाजिक दायित्वबोध कोई ऐसी स्थूल चीज नहीं हैं, जिसे सृजन की समग्र प्रक्रिया से अलगाकर बाहर से साहित्यकार पर थोपा जा सके। जो कुछ समाज के मन में घट रहा है या घटने वाला है, सबसे पहले उसकी आहट साहित्यकार को ही मिलती है। सृजनात्मक ज्ञान तथा ज्ञान के अनुशासनों के बीच यह मूलभूत अंतर है, जिसे अनदेखा करना या उलटना सृजन के मूल स्रोत को ही झुठलाना या प्रदूषित कर देना है।'' (पृ. 15)

श्री शाह पुस्तक के आलेखों में देश और काल के अनेक प्रश्नों का सामना करते हैं। अनेक विसंगतियों से टकराते हैं। अपनी विश्लेषण क्षमता से अलग तत्व को खोजने का उपक्रम करते हैं। उनकी लक्ष्य-दृष्टि में सांस्कृतिक-सृष्टि है। इस सांस्कृतिक वृत्त में विश्व की अनेक संस्कृतियों के रंग हैं। उनमें भारतीय सांस्कृतिक चिंतन और संरचना क्यों और कैसे विशिष्ट और भिन्न है, इसका विवेचन और निर्णय वे अपने वर्तमान में खड़े होकर करते हैं। इन आलेखों में वाद के माध्यम से संवाद तक पहुंचने का अनुक्रम है। हैं ये संवाद ही। क्योंकि वाद की प्रकृति हमारी नहीं है। वास्तव में इस ग्रंथ में संग्रहित आलेख संस्कृति से संवाद हैं, जो विश्लेषण और विवेचन की प्रक्रिया में सांस्कृतिक संवाद बनते चले जाते हैं। वे स्वस्थ-सांस्कृतिक वातावरण और सांस्कृतिक विवेक दोनों को अनिवार्य मानते हैं। अज्ञेय के माध्यम से वे कहते हैं कि स्वस्थ-सांस्कृतिक वातावरण में तो संस्कृति के उपादान हमारा जीवन परिचालित और नियंत्रित करते हैं, लेकिन सांस्कृतिक-संकट या संस्कृति की संकटापन्न स्थिति में हमें सांस्कृतिक विवेक को जगाकर मुक्ति का मार्ग ढूंढना ही होगा; अज्ञेय इसी क्रम में 'आलोचक राष्ट्र' के निर्माण पर बल देते हैं।

लेखक की स्पष्ट धारणा है कि भारतीय संस्कृति की शक्ति और चिरनवीनता उसकी चिरंतन चेतना की प्राणभूत आध्यात्मिक साधना की धारा में निहित है। यह सत्य को पंथ विशेष में कैद नहीं करती। यह एक सद् विप्रा बहुदा वदंति की मान्यता वाली चराचर हित चिंतक संस्कृति है। संस्कृति की प्राणभूत धारा की अभिव्यक्ति प्राचीन वाङ्मय, पुराण, इतिहास और महाकाव्यों के द्वारा हुई है। प्रत्येक युग में इस प्राणभूत धारा को युगानुरूप वाणी दी है। यह कार्य संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के साथ-साथ लोकभाषाओं ने सक्षम रूप में किया। कालांतर में प्रांतीय भाषाओं ने इस उत्तरदायित्व का बहुत अच्छी तरह निर्वाह किया। इस कार्य में हिंदी की योग्यता और निष्ठा रेखांकित करने योग्य रही है।

हाल ही में मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल का प्रतिष्ठा आयोजन 'पावस व्याख्यानमाला' संपन्न हुआ। यह चौबीसवीं व्याख्यानमाला थी। प्रायः

प्रतिवर्ष डॉ. रमेशचंद्र शाह इस आयोजन के प्रत्यक्ष, सक्रिय और अतिविशिष्ट भागीदार रहे हैं। इन आलेखों में से अधिकांश इस आयोजन में समय-समय पर दिए गए वक्तव्य ही हैं। गांधी जी के 125 वें जन्म दिवस पर रखे गए विषय पर श्री शाह गांधीजी के संपूर्ण कृतित्व में से उन तथ्यों और सहायकों को प्रकाशित करते हैं, जिन्होंने मोहनदास को महात्मा बनाया। वे जैनेंद्र कुमार और निर्मल वर्मा के गांधी से संबंधित कथनों के आधार पर गांधी के सांस्कृतिक चिंतन और सत्य-सापेक्ष कर्म की व्याख्या करते हैं। जैनेंद्र कुमार का कथन है-'गांधीजी की महिमा में न रहकर उनकी सत्यता में उतर सकें तो हमें स्तब्ध रह जाना होगा' (पृ. 29)। निर्मल वर्मा का गांधी के बारे में कथन है- ''जब मैं गांधीजी के बारे में सोचता हूं, तो कौन-सी चीज सबसे पहले ध्यान में आती हैं? लौ जैसी कोई चीज अँधेरे में सफेद, न्यूनतम जगह घेरती हुई, निष्कंप और स्थिर कि वह जल रही है, इसका पता नहीं चलता।'' (ढलान से उतरते हुए, पृ. 133)

श्री शाह गांधी के जीवन की 'सत्यता' और उनके सुकर्मों की 'लौ' के आलोक में ही उनके समग्र को देखने की कोशिश करते हैं। स्वदेशी आंदोलन के स्रोत वे रवींद्रनाथ और महर्षि अरविंद की बगल में गांधी को खड़ा करके खोजते हैं। अंग्रेजी द्वारा भारतीय भाषाओं को दबाए जाने पर अरविंद ने चिंता व्यक्त की थी। उन्होंने इसे संस्कृति से जोड़कर देखा था। भाषा नष्ट होती है तो संस्कृति का भी क्षरण होता है। गांधी की भी चिंता भारतीय भाषाओं को लेकर उतनी ही गहरी थी। उनकी चिंता थी कि अंग्रेजी के कारण भारतीय भाषाओं की अवमानना भी सांस्कृतिक संकट का कारण होगी। श्री शाह कहते हैं कि गांधी की दृष्टि में लोक भाषाओं का बड़ा महत्व और सम्मान था। गांधी के सामने भक्ति आंदोलन लोकभाषाओं की शक्ति का प्रमाण है। भक्तिकाल की आवाजें गांधी में देखी-सुनी जा सकती है। 'हिंद स्वराज्य' में गांधी ने नए ऊर्जा-प्रवाह के साथ असली भारत को

रमेशचंद्र शाह लिखते हैं कि भारतीय संस्कृति की चराचरवादी दृष्टि और विरुद्धों का सामंजस्य स्थापित करने वाले दो महाकाव्य रामायण और महाभारत हैं। वास्तव में ये सत्य और सौंदर्य की मूलगामी प्यास को जगाने वाले महाकाव्य हैं।

पुनर्जीवित कर उसका साक्षात्कार किया है। गांधी की सत्यता राजनीति और धर्म के मेल में देखी जा सकती है। उनके जीवन में द्वैत नहीं है। धर्मप्राण होकर ही राजनीति सत्य है। गांधी सृजनात्मक शक्ति से संपन्न प्रतिभाशाली व्यक्ति के रूप में भारत और विश्व को दी गई ईश्वरीय देन है। श्री शाह कहते हैं कि ऐसे गांधी को भारत के बुद्धिजीवी ठीक-ठीक नहीं समझ पाए। सवाल दरअसल हमारे बुद्धिजीवियों की स्वाधीनता और प्रामाणिकता का भी है।

रमेशचंद्र शाह ने निराला को फिर से पढ़ा। अभी तक के निराला के मूल्यांकन से भिन्न बातें जो उन्होंने अनुभव की, उनमें से पहली यह कि 'कहीं-न-कहीं जो जातीय चेतना की लय टूट गई थी, उस लय को फिर से पाने का संघर्ष ही निराला का जीवनव्यापी संघर्ष था। (पृ. 41) यह निर्णय निराला को द्वंद्वात्मक भौतिकवादी उधार ली गई चिंतनधारा से अलग देखने का सत्य है। निराला ने अपने संघर्ष की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम हिंदी को माना और अपनाया। लेखक एक सत्य का और उद्घाटन करता है- नैतिक कल्पना के स्तर पर गांधीजी से उनके हृदय के तार बराबर मिले हुए थे। यह भी लेखक प्रतिपादित करता है- ''हमारी सांस्कृतिक दृष्टि मूलतः सृजनात्मक है। वह सृजन के तर्क से चलती है। यह उसका स्वभाव-स्वधर्म है। इसी सृजनधर्मी संस्कृति के साथ निराला के हृदय के तार जुड़े हुए थे। इसी कारण सांस्कृतिक लय-भंग की वेदना उनके कवि-कर्म की भी एक आधारभूत प्रेरणा थी।'' (पृ. 52) श्री शाह को यह भी लगा कि ''अपने समकालिनों में निराला ही ऐसे कवि हैं, जिनकी संवेदना और स्वभाव का गहरा और जीवंत जुड़ाव मध्यकालीन भक्ति काव्य के साथ दिखता है।'' (पृ. 57) यहां स्वाभाविक प्रन उठता है-क्या यह जुड़ाव जयशंकर प्रसाद में सांस्कृतिकता के स्तर पर और महादेवी वर्मा में करुणा के स्तर पर दिखाई नहीं देता है? यदि निराला 'आत्मा की निधि पावन बनती' का आलोक अनुभव करते हैं तो प्रसाद-'चिति का स्वरूप यह नित्य जगत, यह रूप बदलता है शत शत', के सत्य का उद्घाटन करते हैं।

'वाद-संवाद' नामक पुस्तक में रमेशचंद्र शाह के सांस्कृतिक-वैचारिक चिंतन से उपजे दो अत्यंत गंभीर और सतर्क करने वाले निबंध है। एक है-ऋषि परंपरा और आज का भारत : सांस्कृतिक लय-भंग। दूसरा है- साहित्य का आत्मसंघर्ष और योग की अभय साधना। इन निबंधों में ऋषि-परंपरा, मुनि-परंपरा, योग-साधना द्वारा भारतीय संस्कृति के स्वरूप-निर्माण और स्थायित्व पर चिंतन है। ''ऋषि-परंपरा और मुनि-परंपरा दो हैं। दोनों के बीच मंत्रविद् और आत्मविद् का विवेक दृष्टिगोचर होता है। एक में वाक् का महत्त्व है। दूसरे में योगलब्ध भूमिका।'' (पृ. 60) इन दोनों निबंधों में डॉ. शाह ने विषय को और-और स्पष्ट और प्रतिपादित करने में महर्षि अरविंद के चिंतन का आधार लेते हुए संस्कृत, हिंदी और अंग्रेजी के अनेक रचनाकारों, सिद्धांत प्रतिपादक आचार्यों और दार्शनिकों के कथनों को उद्धृत किया है। इससे लेखक की विद्वता और अध्ययनशीलता जाहिर है। उनका सप्रमाण मत है कि यही ऋषि-परंपरा है जिसने वास्तव में भारतीय संस्कृति का प्रवर्तन किया है, उसके प्रवाह-पथ को सुनिर्दिष्ट किया है। आधुनिक दर्शनशास्त्री स्व. जे.एल. मेहता की ओट में श्री शाह कहते हैं- 'वेद टेक्स्ट तो हैं,

किंतु उस अर्थ में 'किताब' वह नहीं है, जिस अर्थ में यहूदियों-क्रिस्तानों-मुस्लिमों के धर्मग्रंथ 'किताब' हैं। कबीर जैसे रहस्यवादी संत भी यदि वेद और 'किताब' के बीच अंतर करते दिखाई देते हैं तो भला क्यों? (पृ. 61)

वेदों के पास वाक् की प्रामाणिकता का उद्घोष है। ऋषि-मुनि ने आत्मिक साधना से मंत्र-दृष्टा, कविर्भूः मनीषीः, आचार्य की स्थिति प्राप्त की है। लेखक सचेत करता है कि हम पूरी परंपरा का अध्ययन और चर्चा कर विगत आदर्श की चर्चा न कर यह जानना और समझना चाहते हैं कि ''ऋषि-मुनियों का देश भारत जिस तरह हजारों वर्षों पहले था, ठीक उसी तरह न भी सही, किंतु छिटपुट, ज्वलंत दृष्टांतों के स्तर पर वह आज भी वही भारत है। वह परंपरा एक क्षीण धारा की तरह आज भी यहां प्रवाहमान है।'' (पृ. 64) श्री शाह नश्वरता के निर्भांत, निर्भय स्वीकार को भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य मानते हैं। दूसरी संस्कृतियों ने मनुष्य को प्रमुख माना और मानवेतर जगत को गौण या उपभोग्य। भारतीयों ने अरण्य को अपने जीवन में अंतर्मुक्त कर लिया। भारत में अरण्य पशु-पक्षियों का निवास स्थल था और श्रेष्ठ मनुष्यों-ऋषियों-मुनियों का आश्रय। आश्रम स्थल भी था। वे श्री अरविंद के कथन के माध्यम से स्थापना देते हैं कि जो संस्कृति सर्वाधिक आत्मचेतस होती है, वही सर्वाधिक विश्वचेतस् भी होती है।

'साहित्य का आत्मसंघर्ष और योग की अभय-साधना' अद्भुत सद्-चिंतन से भरा निबंध है। इसे पढ़कर भारतीय अध्यात्म की गलियों में विचरने का सुख मिलता है। आत्म साधना, आत्मशक्ति, प्रतिमा, पुनर्जन्म, आत्मान्वेषण, आत्म-स्वरूप, महाशक्ति, सनातन- जीवन-लीला योग समाधिलब्ध परमार्थ आदि ऐसे पदबंध हैं, जो अत्यंत गहन और व्यापक सांस्कृतिक चिंतन और स्तर को अर्थ देते हैं। श्री शाह कला के संबंध में यह सवाल करते हैं कि क्या वह सत्य और सौंदर्य की समग्र अभिव्यक्ति में सक्षम है? वे उत्तर में कहते हैं- ''आजीवन कला और साहित्य में रमे रहने के बाद भी आपको लग सकता है और लगता ही है कि जीवन के परमार्थ की खोज इससे भिन्न और उच्चतर धरातल पर करनी होगी।'' (पृ. 85) विश्व मानवता को भारत की सबसे बड़ी देन योग है। सबसे बड़ा अविष्कार है। मनुष्य जन्म दुर्लभ है। मनुष्य में प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा है। कर्म और पुरुषार्थ द्वारा उस सोई शक्ति को जगाना यह शक्ति जन्म-जन्मांतर के कर्म-पुण्य का प्रतिसाद है। इसके जागने पर मृत्यु का भय खत्म हो जाता है। एक सनातन जीवन लीला का क्रम समझ में आने लगता है। जो उच्चतर स्तरों पर सक्रिय शक्ति या महाशक्ति है, उसका आह्वान कर अवतरण संभव किए जाएं यह अत्यंत कठिन है, पर संभव है। भारत के ऋषियों, मुनियों, संन्यासियों, कवियों (व्यास वाल्मीकि, तुलसी) ने यह संभव किया है। उस दिव्य अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए कविता या कला का आधार लेना होता है। कलाएं जीवन देवता का स्तवन करती हैं, मृत्यु का नहीं, यह सृष्टि उस परम देवाधिदेव का ऐसा अमर काव्य है, जो न कभी बुढ़ाता है, न मृत्यु का ग्रास बनता है। ''देवस्य पश्य काव्यं, न ममार न जीर्णते।'' (ऋग्वेद)

इस पुस्तक में एक और संस्कृति आवेष्टित गंभीर निबंध है- 'असंख्य बंधन मांझे- साहित्य की मुक्ति कामना।' इनमें श्री शाह साहित्य के अर्थ को व्यापक रूप से खोलते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य संपूर्ण की अभिव्यक्ति है। वह एक पक्षीय वाणी-विलास नहीं है। वह आदर्श और यथार्थ दोनों से गहरा जुड़ा होता है। साहित्य की चिंता यह भी रहती है कि मनुष्य जैसा भी है, है, लेकिन वह क्या हो सकता है या उसे क्या होना चाहिए। वे लेखकीय स्वतंत्रता और चिंतन की मौलिकता रचनाकार का गुण है। ''लेखक यदि सचमुच प्रतिभाशाली और सृजनशक्ति संपन्न है, तो वह किसी भी, कैसी भी विचारधारा का अनुचर नहीं बन सकता।'' (पृ. 122) सर्जक की संवेदना उन्मुक्त होती है। भारतीय भाव-बोध की मुख्यधारा अनासक्त कर्म ही है। सोद्देश्य कर्म-प्रेरणा ही हिंदी साहित्य की मुख्यधारा है। साहित्य की मुक्तिकामना करते हुए लेखक साफ-साफ कहता है- ''सबको साथ लेकर चलने वाली दृष्टि ही साहित्य के काम आने वाली सत्यमूलक अहिंसा की दृष्टि है। किसी भी मतवादी घेरे से मुक्त खुलेपन की तलाश अर्थात् बंधनों के बीचों-बीच खुले आकाश की कामना और तपस्या, जिसे हमारे पुरखों ने 'वखिस्या' नाम दिया था।

इस पुस्तक में डॉ. शाह ने पं. विद्यानिवास मिश्र को संस्मरणों के माध्यम से आत्मीय भाव से याद किया है। दरअसल यह पंडितजी की संस्मरणात्मक कलम को प्रणाम है। 'चिड़िया रैन बसेरा' के माध्यम से पंडित जी के व्यक्तित्व की अनूठी और अनुकरणीय बातों का स्मरण है। लेखक अपनी जन्मभूमि अल्मोड़ा को भी भावकुंड में स्नान करते हुए याद करता है। इस बहाने शाहजी का आत्मकथ्य और आत्मचरित भी कहीं-कहीं झांकता है। और अंत में 'कबहुं न नाथ नींद भरि सोयो' अभिव्यक्ति के माध्यम से स्वयं को पूर्णतः खोलते हुए डॉ. शाह कहते हैं- ''मुझ सरीखे लोगों के लिए इस दुनिया में जीने और कृतकार्य होने का अर्थ है- एक निरंतर साथ लगी धुकधुकी... पछतावा... एक अनाम भय द्वारा किसी भी क्षण दबोच लिए जाने का कभी पीछा न छोड़ने वाला भय चैन से आँख मूंदने या सांस लेने में अजीब सी कठिनाई... और फिर भी इस सारे समय लगातार कर्मरत रहना, खूब हँसी-मजाक करना और लोगों से बातचीत के पुल पर पुल बांधते जाना... हां, मेरे जैसे लोगों के लिए यही है इस दुनिया में जिंदा रहने और सफल होने का अर्थ।'' (पृ. 162)

फिर भी लेखक सारी दुश्चिंताओं और सारे कलुष से परे एक अनिर्वचणीय शांति से पोर-पोर को सिंचित अनुभव करने, सुख की हर तृष्णा से एकदम परे जाने का अनुभवी-अभिलाषी है। यह पुस्तक साहित्य-संस्कृति के हर समझदार व्यक्ति को पढ़नी चाहिए। ■

लोकतंत्र का अंतिम क्षण!

■ **अरुण कुमार त्रिपाठी**
मीडियाविद्

संपर्क : डी-104,
जनसत्ता अपार्टमेंट्स,
सेक्टर-9, वसुंधरा,
गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.)

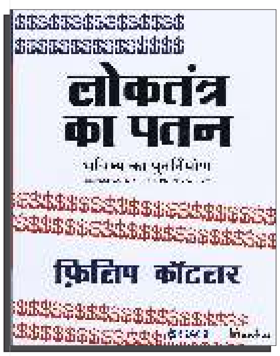

पुस्तक : लोकतंत्र का पतन : भविष्य का पुनर्निर्माण
लेखक : फिलिप कॉटलर
प्रकाशक : सेज भाषा, सेज पब्लिकेशंस इंडिया प्रा. लि., नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 168
मूल्य : रु. 250

लोकतंत्र का अंतिम क्षण है कहकर आप हँसे।
आप सभी हैं भ्रष्टाचारी कह कर आप हँसे।
कितने आप सुरक्षित होंगे, कह कर आप हँसे।
चारों ओर बड़ी लाचारी कह कर आफ हँसे।

रघुवीर सहाय की यह पंक्तियाँ आजकल दुनिया के सबसे महत्त्वपूर्ण लोकतंत्र अमेरिका में सुनाई पड़ रही हैं। नए राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप के आने के बाद यह आवाजें कुछ ज्यादा तेज हो गई हैं। इसका मतलब यह नहीं कि यह स्वर पहले था नहीं। ट्रंप के चुनाव से पहले लेकिन चुनाव प्रक्रिया आरंभ होने के दौरान ही लिखी गई लोकतंत्र का पतन भविष्य का पुनर्निर्माण (डेमोक्रेसी इन डिक्लाइन-रीबिल्डिंग इट्स फ्यूचर)' नामक किताब उन स्थितियों के प्रति सचेत करती है जिनमें राजनीति में आवश्यकता से अधिक धन के प्रवेश करने, पार्टियों के प्रतिद्वंद्वी न होकर दुश्मन हो जाने, मतदान करने वालों की संख्या घटने और सिर्फ एक प्रतिशत लोगों द्वारा प्रणाली को प्रभावित करने के कारण लोकतंत्र गंभीर खतरे में आ गया है। लेखक फिलिप कॉटलर नार्थ वेस्टर्न यूनिवर्सिटी में केलाग स्कूल ऑफ मैनेजमेंट की जानसन एंड जानसन पीठ में इंटरनेशनल मार्केटिंग विषय के प्रोफेसर एमिरेट्स हैं। इस पुस्तक में फिलिप कॉटलर लोकतंत्र की चौदह कमियों को चिह्नित करते हुए बताते हैं कि किस तरह से बदलते समय में पूरी दुनिया में लोकतंत्र का ढांचा तनाव महसूस कर रहा है। वजह साफ है कि सात अरब की आबादी वाले इस विश्व में पांच अरब लोग गरीबी में जी रहे हैं। लोगों का उजड़ना जारी है। युद्ध थोपे जा रहे हैं, सैनिक सरकारें जनमत का दमन कर रही हैं। आतंकी विस्फोट कर रहे हैं और उन्हें खत्म करने के नाम पर आम जनता हवाई हमलों का सामना कर रही है। चारों ओर लोकतंत्र की आवाजें उठ रही हैं लेकिन यह साफ नहीं है कि वह व्यवस्था कैसी होगी जिसे- 'जनता के लिए, जनता के द्वारा और जनता की' जैसे ध्येय वाक्य से संबोधित किया गया है। यही वजह है कि मौजूदा लोकतंत्र की आलोचना में वे मशहूर उपन्यासकार चार्ल्स डिकेंस से उपन्यास की निम्न पंक्तियों का उल्लेख करते हैं- 'यह सर्वश्रेष्ठ समय था, यह सबसे बुरा समय था, यह बुद्धिमत्ता का काल था, यह बेवकूफी का काल था, यह विश्वास का युग था, यह अविश्वास का युग था, यह प्रकाश का मौसम था, यह अँधेरे का मौसम था, यह उम्मीद का वसंत था, यह नाउम्मीदी का शीतकाल था, हमारे सामने सब कुछ था, हमारे सामने कुछ भी नहीं था, हम सभी सीधे स्वर्ग जा रहे थे, हम सब सीधे दूसरी ओर जा रहे थे।'

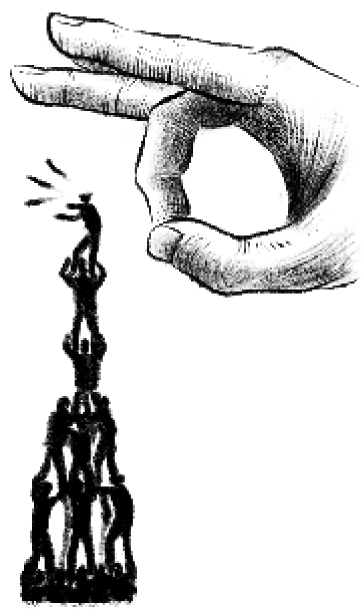
रेखांकन : सोमेश कुमार

कॉटलर महोदय इन पंक्तियों के माध्यम से इस युग और अमेरिकी लोकतंत्र के विरोधाभास की कहानी कह देते हैं। मानें तो यही कहानी सारी दुनिया के लोकतंत्र की है। वहां लगातार धनतंत्र हावी हो गया है और मामला एक प्रतिशत बनाम 99 प्रतिशत का हो चला है। यह स्थिति उन तमाम सपनों को ध्वस्त करती है जिसे 'एंड ऑफ हिस्ट्री' में फ्रांसिस फुकुयामा जैसे विचारक देखते हैं और पूरी दुनिया में लोकतांत्रिक समाजवाद आने की कल्पना करते हैं। ग्यारह अध्यायों में लिखी गई इस पुस्तक में अध्यायों के शीर्षकों के दूसरे हिस्से लोकतंत्र की तमाम बीमारियों का वर्णन करते हैं। उनके क्रम इस प्रकार हैः-

1. क्यों सिर्फ चुनावों का होना पर्याप्त नहीं है?
2. नागरिक मतदान क्यों नहीं कर रहे हैं?
3. कांग्रेस बुरा प्रदर्शन क्यों करती है?
4. क्या राष्ट्रपति अतिशक्तिशाली हैं?
5. क्या न्यायपालिका विधि को गढ़ रही है?
6. क्या राज्य अति स्वतंत्र है?

7. क्या दल बहुत अनम्य हैं?

8. विदेश नीति किसे बनानी चाहिए?

9. क्या सरकारी कर्मी कुशल और सचेत हैं?

10. लोकतंत्र बहाल करने के लिए क्या करना होगा?

11. अनसुलझे नीतिगत मामलों को सुलझाना?

कॉलटर की चिंता यूं अनुसंधान केंद्र के उन सर्वेक्षणों से शुरू होती है जिनमें अपनी सरकार पर यकीन करने वाले अमेरिकियों की संख्या सिर्फ 15 प्रतिशत है और उन लोगों की संख्या 75 प्रतिशत तक पहुंच गई है जो मानते हैं कि अधिकतर निर्वाचित प्रतिनिधि अपने हितों को देश के हित से ऊपर रखते हैं। पुस्तक के प्राक्कथन में शिकागो विश्वविद्यालय में पब्लिक पॉलिसी के डीन डैनियल डीर्मायर कहते हैं कि लोकतंत्र के स्वास्थ्य को मापने के लिए राजनीति और विचारधारा से मुक्त होकर कठोर विश्लेषण के औजार का प्रयोग करना चाहिए और कॉटलर शायद यही करते भी हैं। वे लोकतंत्र को एक उत्पादन मानते हैं जिसे जनता और उसने नेतृत्व ने कड़ी मेहनत से तैयार किया है और उसे आवश्यकता की कसौटी पर खरा उतरना ही चाहिए।

कॉटलर ने 2015 में-'कन्फ्रंटिंग कैपिटलिज्म : रियल सॉल्युशन्स फॉर ए ट्रबल्ड इकोनामिक सिस्टम'-नामक पुस्तक लिखकर यह बात रख दी थी कि पूंजीवाद ने धन अर्जन तो बहुत किया है लेकिन उसका वितरण नहीं किया है। न उसे 15 प्रतिशत गरीब अमेरिकियों की चिंता है और न ही उन लोगों की जो स्वास्थ्य बीमा के बिना रह रहे हैं। ज्यादातर विद्यार्थी जबरदस्त कर्ज में हैं। वे जीवन नहीं शुरू कर पा रहे हैं। हालांकि उदारीकरण और वैश्वीकरण के चलते उत्पन्न हुई इन समस्याओं पर चर्चा तो करते हैं लेकिन उसके मूल कारणों की ओर साहसिक तरीके से संकेत नहीं करते।

फिर भी वे जिन समस्याओं को लोकतंत्र की बीमारी के रूप में बताते हैं वे आने वाले

इस पुस्तक में फिलिप कॉटलर लोकतंत्र की चौदह कमियों को चिह्नित करते हुए बताते हैं कि किस तरह से बदलते समय में पूरी दुनिया में लोकतंत्र का ढांचा तनाव महसूस कर रहा है। वजह साफ है कि सात अरब की आबादी वाले इस विश्व में पांच अरब लोग गरीबी में जी रहे हैं। लोगों का उजड़ना जारी है। युद्ध थोपे जा रहे हैं, सैनिक सरकारें जनमत का दमन कर रही हैं। आतंकी विस्फोट कर रहे हैं और उन्हें खत्म करने के नाम पर आम जनता हवाई हमलों का सामना कर रही है।

दिनों में अमेरिका ही नहीं पूरी दुनिया को अपनी गिरफ्त में लेने वाली है। उन समस्याओं में एक प्रमुख समस्या इंटरनेट के प्रसार के साथ होने वाला आदिवासीकरण है। लोग अपने ही समूहों को ज्यादा पढ़ रहे हैं एवं सुन रहे हैं। वे अन्य आवाजों की ओर ध्यान कम दे रहे हैं। हर कोई सूचना के अपने आरामदायक वातावरण में रह रहा है और दूसरे लोगों को दृष्टिकोण को देखना पसंद नहीं करता। इसी तरह रोबोट और कृत्रिम बुद्धिमत्ता ऐप्स का प्रयोग बढ़ती आबादी और रोजगार के लिए खतरा पैदा करता है। चीन समेत कई देशों में आर्थिक वृद्धि की रफ्तार धीमी पड़ रही है। कई देश कर्ज के नीचे दबे हुए हैं। उससे भी बड़ी चिंता एक प्रतिशत लोगों के पास पचास प्रतिशत से ज्यादा धन का जमा होना है और बाकी 99 प्रतिशत लोगों के पास कमियों का रोना है। परमाणु युद्ध और आतंकवाद की स्थितियां भी दुनिया और उसके लोकतांत्रिक भविष्य के लिए चिंता पैदा करती हैं।

कॉटलर कहते हैं कि एक समय था जब 'हम लोग' देश चलाते थे लेकिन आज 'हम कारपोरेशन' देश चला रहे हैं। वे कालिन काउच की किताब कोपिंग विद् द पोस्ट डेमोक्रेसी को उद्धृत करते हैं और बताते हैं कि किस तरह राजनीतिक प्रणाली अब मतदाताओं द्वारा नियंत्रित न होकर धनाढ्यों द्वारा नियंत्रित होती है। इसलिए जरूरत वास्तविक लोकतंत्र की ओर जाने की है। कॉटलर ने एलन मूर को उद्धृत करते हुए लोकतांत्रिक सरकारों की पहचान इस प्रकार की है- लोगों को अपनों से भयभीत नहीं होना चाहिए बल्कि सरकारों को अपने लोगों से भयभीत होना चाहिए। लेकिन स्थिति उल्टी है। आज दुनिया के सात अरब लोगों में से ज्यादातर लोग उत्पीड़न, भ्रष्टाचार और तानाशाही से पीड़ित हैं। उनके इस कथन का यह भी अर्थ है अगर दुनिया का लोकतंत्र संकटग्रस्त रहेगा तो कैसे अमेरिकी लोकतंत्र दुनिया का स्वर्ग रह सकता है। बल्कि वे इस बात को रेखांकित करते हैं कि किस प्रकार नार्डिक देशों यानी कि स्वीडन, डेनमार्क, फिनलैंड में प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा निःशुल्क दी जाती है। वे आक्यूपाई वाल स्ट्रीट आंदोलन में उठाए गए इन मुद्दों का जिक्र करते हुए यह सुझाव देते हैं कि आंदोलन करने वाले यह कहना भूल गए कि अमेरिका में कितनी बंदूकें पाई जाती हैं कितने लोग जेलों में कैद हैं, भोज्य पदार्थ कितने गड़बड़ हैं और न्याय प्रणाली कितनी महंगी है। आज भी बहुत सारे नागरिक अमेरिकी असाधारणता में यकीन करते हैं। यह भी एक वजह है अपनी व्यवस्था में सुधार की पहल न करने का। लेकिन जब उनसे गोपनीय तरह से आंकड़ों को प्रस्तुत करते हुए सर्वे में पूछा जाता है कि वे किस देश में रहना पसंद करेंगे तो वे अमेरिका की बजाय स्वीडन जैसे

देशों की प्राथमिकता बताते हैं।

फिलिप कॉटलर की चिंता यह कि जब लोगों के पास मतदान का अधिकार नहीं था तब वे उसे प्राप्त करने के लिए चिंतित थे और जब वह अधिकार प्राप्त हो गया है तो वे मतदान नहीं कर रहे हैं। इसी सिलसिले में वे माइकल मूर को उद्धृत करते हुए लिखते हैः- ''लोकतंत्र एक देखा जाने वाला खेल नहीं है यह एक सहभागिता वाली घटना है। यदि हम इसमें भाग नहीं लेते हैं तो लोकतंत्र का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।''

वे याद दिलाते हैं कि 1863 से पहले गुलामों को मतदान का अधिकार नहीं था। 1919 का संशोधन पास होने से पहले अमेरिकी स्त्रियों को मतदान का अधिकार नहीं था। उनकी चिंता का विषय है कि अमेरिका में मतदान का प्रतिशत बमुश्किल से 60 प्रतिशत होता है जबकि आस्ट्रिया में 75, बेल्जियम में 89 और जर्मनी में 71 प्रतिशत होता है। यहां वे आस्ट्रेलिया का हवाला देते हुए कहते हैं कि वहां मतदान न करने वालों पर बाकायदा जुर्माना लगता है। लेकिन अमेरिका में मतदान के कम प्रतिशत होने का एक कारण यह भी है कि अमेरिका में अश्वेतों के मतदान का प्रतिशत घटाने के लिए पहचान पत्रों की अर्हता को कड़ा किया जा रहा है और मतदान के दिन होने वाले पंजीयन को कम कर दिया गया। दरअसल 1965 में राष्ट्रपति लिंडन जानसन ने वोटिंग राइट्स एक्ट पारित करके यह व्यवस्था की थी कि मतदान के अधिकार के साथ नस्ली भेदभाव न किया जाएं लेकिन अब अमेरिका के श्वेत समुदाय के लोग यह कहने लगे हैं कि वोटिंग राइट्स एक्ट का उद्देश्य पूरा हो गया है और अब उसे समाप्त कर देना चाहिए। दूसरी तरफ वे उत्तरी कैरोलिना, टेक्सास और अन्य पांच राज्यों में ऐसी व्यवस्था कर रहे हैं जिससे डेमोक्रेट को वोट देने वाले अश्वेत कम से कम वोट दे सकें। वे चाहते हैं कि फिर कोई बराक ओबामा अमेरिकी राष्ट्रपति न हो सके।

कॉटलर की चिंता यह भी है कि जनमत के निर्माण की प्रक्रिया निष्पक्ष नहीं है। इससे चुनाव परिणाम लोकतंत्र के अनुकूल नहीं है। न तो योग्य उम्मीदवार आ रहे हैं और न ही जरूरी मुद्दे उठ पा रहे हैं। धन के बल पर अयोग्य उम्मीदवार हावी हो रहे हैं और उसी से प्रचार तंत्र संचालित हो रहा है। वे मीडिया के फॉक्सीकरण का वर्णन करते हुए लिखते हैः- ''पहले भी समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में विभाजन होता था उनमें झुकाव भी हो सकता था लेकिन वे सभी समाचारों को देते थे। द न्यूयार्क टाइम्स एक ज्यादा उदारवादी झुकाव वाला अखबार था, जबकि द वाल स्ट्रीट और द शिकागो ट्रिब्यून एक ज्यादा रूढ़िवादी झुकाव वाला था। टाइम और न्यूजवीक मुख्यतः निष्पक्ष समाचार तैयार करती थीं।...

(आज) रूढ़िवादी समाचार मत को प्राथमिकता देने वाले मतदाता फॉक्स देखेंगे और उदारवादी एमएसएनबीसी देखेंगे। दोनों सूचनाओं से पूर्वाग्रहित स्रोत हैं। आज रूढ़िवादी फाक्स के दर्शकों की संख्या एबीसी, सीबीसी और एनबीसी के दर्शकों की संयुक्त संख्या से काफी ज्यादा है। मतदाता उत्तरोत्तर उस मीडिया को पढ़ तथा सुन रहे हैं जो उनके राजनीतिक विचारों, झुकावों के अनुकूल होता है। मतदाता समय के साथ आदिम हो रहे हैं।''

इस दौरान झूठी कहानियों का निर्माण भी किया जा रहा है और इस काम में कई एजेंसियां अग्रणी भूमिका निभा रही हैं। इसके अलावा कॉटलर कहते हैं कि आज कारपोरेशन एक परोक्ष शासन संस्थान बन गए हैं। वे भले अनिर्वाचित हैं लेकिन इस देश में सार्वजनिक नीतियों का निर्माण कारपोरेट सीईओ कर रहे हैं। चुनावों पर धन और धमकियों के बढ़ते प्रयोग को देखकर वे कहते हैं कि कई देश अपने लोकतांत्रिक होने का दावा भले करें लेकिन उनमें से वास्तविक लोकतंत्र कुछ ही देशों में है।

अमेरिकी कांग्रेस के बुरे प्रदर्शन का वर्णन करने के लिए कॉटलर जान एडम्स के एक कथन का उल्लेख करते हैः- ''मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि एक अनुपयोगी व्यक्ति अपयश का कारण होता है, ऐसे दो व्यक्ति मिलकर विधिक संस्था का निर्माण करते हैं, जबकि ऐसे तीन या अधिक व्यक्तियों से कांग्रेस का निर्माण होता है।''

कांग्रेस सदस्य उन लोगों के साथ छल करते हैं जिनके द्वारा वे चुने जाते हैं। न्यूयार्क टाइम्स और सीबीसी न्यूज सर्वेक्षण ने सूचना दी कि 80 प्रतिशत अमेरिकी कांग्रेस के सदस्य जिन लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं उनके स्थान पर विशेष हितों की सेवा में ज्यादा रुचि लेते हैं। नन पार्टीशन सेंटर आन कांग्रेस ने 2011-2013 में जो सर्वेक्षण किया उसके अनुसार 49 प्रतिशत प्रतिभागी विशेष हित के लिए, 36 प्रतिशत स्वहित के लिए राज्य जिले और देश के हित में जो सर्वश्रेष्ठ होता है उसके लिए काम करते हैं।

अमेरिकी लोकतंत्र की दो और बड़ी समस्याएं हैं। इनमें एक है राष्ट्रपति और कांग्रेस के बीच होने वाला निरंतर टकराव और दूसरी समस्या है न्यायपालिका द्वारा कानून बनाने की पहल करना। देखा गया है कि नए राष्ट्रपति के लिए कांग्रेस अकसर कठोर होती है। वजह साफ है कि या तो उसका उम्मीदवार हार गया होता है या फिर वह नए नेतृत्व को यह संदेश देना चाहती है कि कानून तो वही बनाएगी। राष्ट्रपति को उसे लागू करना होता है और उसके आशय की विवेचना करनी होती है। इस सोच के कारण अकसर टकराव होता है और कई बार तो कांग्रेस अपना काम भी बंद कर देती है। टकराव की एक वजह यह भी होती है कि राष्ट्रपति को त्वरित कार्रवाई करनी होती है जबकि कांग्रेस की कार्यप्रणाली धीमी होती है।

अमेरिकी लोकतंत्र में एक प्रमुख समस्या न्यायपालिका और विधायिका का टकराव भी है। जब अमेरिकी संविधान का निर्माण हुआ था तो न तो अश्वेतों के पास मताधिकार थे और न ही स्त्रियों के पास। इसी तरह स्त्री और पुरुष दोनों को समान काम के लिए समान वेतन की अवधारणा भी नहीं थी। तब न तो

गर्भपात के अधिकार थे, न ही समलैंगिक विवाह और बीमा वगैरह के हक। आज स्थितियां बदल चुकी हैं और अमेरिकी समाज बहुत सारे अधिकार प्राप्त कर चुका है। सवाल यह है कि ऐसे में संघीय न्यायालय संविधान की कैसे व्याख्या करे। उस व्याख्या के दौरान वह अनुदार रहे या उदार हो। समलैंगिकता, एफोर्डेबल केयर एक्ट, गर्भपात और इंटरनेट पर आए फेडरल कोर्ट के फैसले एकदम अलग व्याख्या निकाल रही है और यह व्याख्या अदालत द्वारा कानून बनाए जाने के पक्ष में जाती है। इस पहल से विधायिका को परेशानी होती है। संभवतः इस तरह की स्थितियां भारत जैसे लोकतंत्र में हम देख सकते हैं। अमेरिकी लोकतंत्र की एक और दिक्कत पार्टी प्रणाली में है। पहले एक पार्टी से दूसरी पार्टी के बीच संवाद सघन था। लेकिन अब ऐसे कम सीनेटर और कांग्रेस सदस्य हैं जो एक-दूसरे के बीच मेल मिलाप में यकीन करते हैं। यह दो दलीय प्रणाली अमेरिका को भले राजनीतिक स्थिरता प्रदान करती हो लेकिन राजनीतिक प्रणाली को ध्रुवीकृत कर दिया है और अतिरिक्त ध्रुवीकरण किसी भी लोकतंत्र के लिए चिंता का विषय है।

अमेरिकी विदेश नीति कितनी महत्वपूर्ण है इस बारे में कॉटलर जान एफ कैनेडी के शब्दों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि, ''घरेलू नीति सिर्फ हमें हरा सकती है, विदेश नीति हमें मार सकती है।'' फिलहाल उनकी चिंता का विषय यह है कि पिछले दो दशक के दौरान अमेरिकी विदेश नीति काफी महंगी और निष्फल रही है। चाहे अफगानिस्तान का युद्ध हो, इराक का हो या लीबिया का। उन सबके परिणामस्वरूप दुनिया में अमेरिका की छवि खराब हुई है, आतंकवाद की समस्या गंभीर हुई है। इसी को चिह्नित करते हुए जोसेफ ई स्टिग्लिट्ज ने इराक में अमेरिकी हमले को 'थ्री ट्रिलियन वार' के रूप में चिह्नित किया है। आज अमेरिका के सामने उत्तर कोरिया की चुनौती उपस्थित है। यहां विफल होने पर अमेरिका की विदेश नीति की बड़ी विफलता सामने आएगी। कॉटलर कहते हैं कि आज दुनिया पर सिर्फ अमेरिका ही हावी नहीं है। आज चीन, भारत, रूस और ब्राजील जैसे देश नई ताकत के रूप में उभर रहे हैं। उनके मद्देनजर अमेरिकी लोककंत्र को अपनी विदेश नीति गढ़नी होगी। अमेरिकी विदेश नीति को गढ़ने में अफ्रीकी उपमहाद्वीप का भी ध्यान रखना होगा क्योंकि उसका पिछड़ापन अमेरिका और कुल मिलाकर दुनिया के लिए भारी पड़ने वाला है।

अमेरिका के लिए नए नेतृत्व का सवाल भी कॉटलर ने उठाया है और उस बारे में जेम्स फ्रीमैन क्लार्क का यह कथन मौजूं बन जाता है कि, ''एक राजनेता अगले चुनाव के लिए सोचता है जबकि एक राजनीतिज्ञ अगली पीढ़ी के संबंध में सोचता है।''

आज अमेरिकी लोकतंत्र का यथार्थ यह है कि चुनाव प्रणाली दोषपूर्ण हो चुकी है, बड़ी राजनीतिक पार्टियां नीतियों पर सहमत नहीं हैं, राष्ट्रपति शक्तिहीन होते जा रहे हैं और जरूरी बदलाव हो नहीं पा रहा है। ऐसे बहुत सारे सवालों के साथ हिलेरी क्लिंटन ने अपना चुनाव प्रचार शुरू किया था लेकिन चुनाव की दिशा भावुकता, अनुदारता और घृणा की ओर मुड़ गई और अमेरिका प्रथम के आधार पर डोनाल्ड ट्रंप ने चुनाव जीत लिया। बाद में महिलाओं ने अपने अधिकारों की चिंता के साथ उस दिन भारी प्रदर्शन किया जब वे शपथ ले रहे थे। अमेरिकी लोकतंत्र की विडंबनाओं के बारे में कॉटलर की किताब से पहले भी कई किताबें आ चुकी हैं। उदाहरण के लिए जैकब एस हैकर और पाल पीयरसन ने 'विनर टेक आल पॉलिटिक्स : हाउ वाशिंगटन मेड द रिच रिचर एंड टर्नड इट्स बैक आन मिडल क्लास'। इन्हीं स्थितियों का वर्णन करती है कि जो चुनाव जीतता है वह सिर्फ एक प्रतिशत की चिंता करता है। लॉरेंस लेसिंग्स की किताब, 'रिपब्लिक लास : हाउ मनी करप्टस कांग्रेस एंड ए प्लान टू स्टाप इट', लैरी बारटेल्स की किताब 'अन इक्वल डेमोक्रेसी द पोलिटिकल इकॉनमी ऑफ न्यू गिल्डेड एज' और नेल्सन मैकार्थी, कीथ टी पूल, हार्वर्ड रोजेन थाल्स की किताब 'पोलराइज्ड अमेरिका : डांस ऑफ आइडियोलॉजी एंड अनइक्वल रिचेज' भी इसी दिशा में विमर्श करती हैं। इस विमर्श पर थॉमस पिकेटी की 'कैपिटल इन ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी' और 'प्राइस ऑफ इनइक्विलिटी' और जोसेफ ई स्टिग्लिट्ज के वैश्वीकरण के आलोचनात्मक लेखन का गहरा प्रभाव है। पर असली सवाल यही है कि क्या लोकतंत्र इस पतन के जाल से निकलने को तैयार है और कारपोरेट घरानों पर कर लगाने, लोकतांत्रिक संस्थाओं को सक्रिय करने और मीडिया तथा राजनीतिक दलों के ध्रुवीकरण को दूर करने को तैयार है? ■

भारतीय बाल साहित्य पर एक जरूरी विमर्श

■ **दिविक रमेश**
साहित्यकार

संपर्क : एल-1202,
ग्रेंड अजनारा हेरिटेज,
सेक्टर-74,
नोएडा-201301 (उ.प्र.)

पुस्तक : भारतीय बाल साहित्य
संपादक : हरिकृष्ण देवसरे
प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2016
पृष्ठ : 618
मूल्य : रु. 450

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित और हरिकृष्ण देवसरे द्वारा संपादित ग्रंथ 'भारतीय बाल साहित्य', बाल साहित्य की दिशा में एक जरूरी और बड़ा कदम है। बांग्ला, मराठी, मलयालम आदि अनेक भारतीय भाषाओं में बखूबी रेखांकित होने और महत्वपूर्ण माने जाने के बावजूद, भारतीय बाल साहित्य की स्थिति एक अरसे तक प्रायः उपेक्षित रही है। इसी ग्रंथ में भूमिका के अंतर्गत पृ. 21 पर डॉ. हरिकृष्ण देवसरे ने उचित ही चिंता व्यक्त की है- ''हमारे यहां आज भी बाल साहित्य को दोयम दर्जे का समझा जाता है। कोई अखबार अच्छे बाल साहित्य के बारे में समीक्षा नहीं छापता। माता-पिता का सरोकार बच्चे की स्कूली किताबों तक ही सीमित रह गया है। उन्हें बाल साहित्य खरीदने में पैसे की बरबादी लगती है। स्कूलों के पुस्तकालयों में किताबें आलमारियों में बंद रहती हैं। वहां शिक्षक अच्छी पुस्तकें पढ़ने की कोई प्रेरणा नहीं देते। इतने सारे संकटों के बीच बाल साहित्य ने विगत पचास वर्षों में अपना जो अस्तित्व बनाया है, उसकी यदि हमने रक्षा करनी है तो हमें नई चुनौतियों का सामना करना होगा।'' साहित्य के इतिहास तक में बाल-साहित्य की केंद्रीय विधा के रूप में चर्चा या तो हुई ही नहीं, और हुई भी है तो हाशिए के साहित्य की तरह। आज इस दिशा में कुछ काम हो रहा है। हिंदी बाल साहित्य को लेकर भी इस दिशा में काम हुए हैं। प्रारंभिक दौर में निरंकार देव सेवक ने 1983 में बाल गीत साहित्य पर इतिहास और समीक्षा की, कुछ सीमाओं के बावजूद, महत्वपूर्ण पुस्तक प्रदान की थी जिसमें मूलतः हिंदी बाल गीत साहित्य के साथ अंग्रेजी और बंगाली बालगीत पर लिखा ही, साथ ही 'भारतीय भाषाओं में बालगीत साहित्य' लेख के अंतर्गत अनेक भारतीय भाषाओं के बालगीत साहित्य पर अच्छी निगाह डाली थी। इस दिशा में एक अन्य उल्लेखनीय पुस्तक है- 'भारतीय बाल साहित्य का इतिहास' जिसका संपादन बाल साहित्य के शलाका पुरुष जयप्रकाश भारती ने किया था। एक अन्य उल्लेखनीय पुस्तक है-नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा अंग्रेजी में प्रकाशित 'ऑस्पैक्टस ऑफ चिलड्रंस लिट्रेचर'। राष्ट्रीय बाल भवन के तत्वावधान में मधु पंत के संपादन में प्रकाशित त्रिवर्णा, त्रिविधा, त्रिधरा, त्रिपदा आदि अनेक पुस्तकें भी भारतीय बाल-साहित्य के अनेक महत्वपूर्ण आयाम प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। विनम्रता के साथ मैं अपने एक बड़े लेख 'भारतीय बाल-साहित्य में पशु और पक्षी' का भी उल्लेख करना चाहूंगा जो प्रकाशन विभाग, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित मेरी पुस्तक 'हिंदी बाल-साहित्य : कुछ पड़ाव' में संकलित है। ऐसे में देवसरेजी द्वारा संपादित और साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'भारतीय बाल साहित्य' से, किसी के भी द्वारा, बड़ी अपेक्षा करना सहज ही कहा जा सकता है।

यह पुस्तक संस्कृत, संथाली, मणिपुरी, बोडो, मैथिली, नेपाली, सिंधी समेत 24 भारतीय भाषाओं के बाल-साहित्य पर केंद्रित है। लेखकों में टी.जी. प्रभाशंकर, दीनदयाल शर्मा, प्रकाश वजीरकर, अनिल बोरो, सुरेंद्र विक्रम, खुशहाल जैदी, देवशंकर नवीन, रमारतन, ओम प्रकाश ठाकुर आदि सम्मिलित हैं। एक सूचना के अनुसार विभिन्न भाषाओं के बाल साहित्य पर लिखे सभी भाग मूलतः हिंदी में नहीं लिखे गए बल्कि हिंदीतर भाषा से हिंदी में अनुदित किए गए।

सबसे पहले हिंदी के बाल साहित्य पर लिखे भाग की चर्चा कर ली जाए जो 86 पृष्ठों का फैलाव लिए हुए है और आकार में सबसे बड़ा है। इस भाग के लेखक बाल साहित्य के शोधकर्ता सुरेंद्र विक्रम हैं, जिन्होंने आरंभ में ही बाल साहित्य-लेखन के लिए बाल-मनोविज्ञान की पूरी समझ की अनिवार्यता पर जोर देते हुए आरंभ में बड़ों के लिए सृजित साहित्य में से ही बालकों के लिए भी काम का साहित्य निकालने का तथ्य उजागर किया है। उन्होंने उचित ही बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से स्वतंत्र बाल साहित्य का विकास मानते हुए भारतेंदु युग से लेकर स्वतंत्रता मिलने तक के बाल साहित्य की उस समय की बाल पत्रिकाओं आदि में उपलब्ध सामग्री के आधार पर बाल साहित्य की कतिपय

प्रवृत्तियों और इतिहास पर अच्छा प्रकाश डाला है। अपने अध्ययन को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने के लिए उसे 'बाल कविता या बाल गीत', बाल कहानी, बाल उपन्यास, बाल नाटक एवं रंगमंच, बाल जीवनी साहित्य जैसे प्रभागों में बाँटा गया है। लेखक ने थोड़ा प्रमाद से काम लिया है। अन्यथा बाल कहानी के अंतर्गत प्रेमचंद की मूलतः बड़ों के लिए कहानियों मात्र के नामोल्लेख से काम न लेते हुए उनकी 'जंगल की कहानियों' का जरूर जिक्र हुआ होता। इसी प्रकार हिंदी के पहले माने गए बाल उपन्यास 'कुत्ते की कहानी', जिसके लेखक भी प्रेमचंद हैं, का कम से कम उल्लेख तो 'बाल उपन्यास' प्रभाग में हो ही जाता। जिक्र हुआ भी है तो स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बाल साहित्य के अंतर्गत जो लेखक की इतिहास-समझ को घेरे में लाता है। लेखक ने स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बाल साहित्य पर शोध, इतिहास और समीक्षात्मक दृष्टि डाली है। इसके लिए भी उन्होंने हिंदी बालकाव्य, हिंदी बाल कहानियां, हिंदी बालनाटक, हिंदी बाल उपन्यास, जीवनी साहित्य, शोध और समीक्षा जैसे प्रभागों से काम लिया है। अंत में हिंदी बाल साहित्य की चुनौतियों, संभावनाओं और भविष्य पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। जो बात बुरी तरह खटकती है वह यह कि बालक और बाल साहित्य के परम हितैषी, मूर्धन्य रचनाकार, एक बहुत लंबे समय तक बालकों की एक सर्वोत्कृष्ट पत्रिका 'नंदन' के संपादक जयप्रकाश भारती को हाशिए से भी कम अर्थात् नगण्य से भी कम स्थान दिया गया है। संपादक हरिकृष्ण देवसरे तो भारती जी के प्रति अति पूर्वाग्रही थे ही बल्कि लगता है कि उनको लेकर हीन भावना से ग्रसित थे ही, यहां सुरेंद्र विक्रम भी उनके अंध अनुयायी प्रतीत हो रहे हैं। विचार-भिन्नता का अर्थ किसी के योगदान की इस हद तक उपेक्षा करना नहीं होता। यूं भी यहां भारती जी के परी आदि से संबद्ध विचारों को बिना उचित तरीके से बिना उचित संदर्भ के, नासमझी से उतार भर दिया है। अपनी गहरी समझ से काम लेते हुए थोड़ा

यह पुस्तक संस्कृत, संथाली, मणिपुरी, बोडो, मैथिली, नेपाली, सिंधी समेत 24 भारतीय भाषाओं के बाल-साहित्य पर केंद्रित है। लेखकों में टी.जी. प्रभाशंकर, दीनदयाल शर्मा, प्रकाश वजीरकर, अनिल बोरो, सुरेंद्र विक्रम, खुशहाल जैदी, देवशंकर नवीन, रमारतन, ओम प्रकाश ठाकुर आदि सम्मिलित हैं। एक सूचना के अनुसार विभिन्न भाषाओं के बाल साहित्य पर लिखे सभी भाग मूलतः हिंदी में नहीं लिखे गए बल्कि हिंदीतर भाषा से हिंदी में अनुदित किए गए।

और परिश्रम किया जाता तो यह लिखा सचमुच महत्व का हो जाता। आज बाल-साहित्य में अच्छे संस्मरण और यात्रावृत्त उपलब्ध हैं जिनका कम से कम उल्लेख तो होना ही चाहिए था। यही नहीं जब शोध का जिक्र हो सकता है तो साक्षात्कारों का क्यों नहीं। गजल, दोहा, पहेलियां आदि का उल्लेख भी नहीं किया गया है। कितने ही अच्छे रचनाकार की रचनाएं छूट गई हैं। डॉ. शकुंतला कालरा के योगदान का कहीं उचित उल्लेख नहीं है। कुल मिलाकर यह भाग अधूरा तो लगता ही है, भ्रम पैदा करने वाला भी लगता है। साहित्य अकादेमी का दायित्व था कि संपादक के व्यक्तित्व से आतंकित हुए बिना इस ओर ध्यान दिया जाता।

उर्दू बाल साहित्य पर खुशहाल जैदी ने लिखा है और यह काफी महत्वपूर्ण है। पता चलता है कि 1857 से पूर्व उर्दू बाल साहित्य की रफ्तार बहुत सुस्त थी जबकि आज वह कई रूपों और रंगों में मौजूद है। जानकर अच्छा लगेगा कि आज खूबसूरत किताबें हैं, मैग्जीनें हैं, कहानियां, ड्रामे, मजामीन और प्यारी नज्में हैं। बताया गया है और जो प्रेरणदायी है कि 'उर्दू बाल साहित्य की खुशकिस्मती है कि उर्दू के हर बड़े अदीब और शायर ने बच्चों के लिए कुछ-न-कुछ जरूर लिखा है।'' यहां हिंदी बाल साहित्य पर लिखे लेख के पैटर्न से अलग पैटर्न अपनाया गया है। संपूर्ण बाल साहित्य के इतिहास और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों का जायजा लोरी, खिलौने, मिठाई और फल, पक्षी, जुगनू-फूल-तितली, बादल, चाँद, सितारे, खेल-कूद, मेला-तमाशा, चिड़ियाघर, सर्कस, पिकनिक, हम्द-नात-मनकबत (प्रार्थना आदि जिस पर उर्दू के लगभग हर कवि ने लिखा है), वतनी और कौमी तराने, बाग-बगीचा, स्कूल, इम्तहान, शारतें, हास्य, व्यंग्य, पहेलियां, मंजूम कहानियां, प्राकृतिक दृश्य, विभिन्न पेशे, त्योहार आदि कविता-रूपों तथा उर्दू बाल कहानी शीर्षकों के अंतर्गत लिया गया है। साथ ही संक्षेप में वर्तमान साइंस के दौर, आज के बच्चे और नई सदी में उर्दू के बाल साहित्य पर भी चिंतन किया गया है। इसके अतिरिक्त उर्दू बाल साहित्य में राष्ट्रीय चेतना पर सोदाहरण जरूरी सामग्री है। लेख में कितने ही अच्छे उदाहरणों के रूप में उर्दू बाल कविता से सुंदर मुलाकातें होती हैं। शरारत से भरी एक मुलाकात का अंश देखिए जिसे रचा है यकता अमरोहवी ने 'कसम उस्ताद की' शीर्षक के अंतर्गत-

मुझसे घर का घर परेशान है कसम उस्ताद की
खुद हर एक उस्ताद नालां है कसम उस्ताद की
क्या है यह स्कूल जिंदा है कसम उस्ताद की
गेंद और बल्ले जियादा देखकर हँसते हो क्यों
यही तो जीने का सामान है कसम उस्ताद की।

एक अच्छी बात यह है कि लेखकों ने

अपनी-अपनी भाषा के बाल साहित्य के प्रारंभ को खोजते हुए स्वतंत्रता पूर्व (अपवादस्वरूप कुछ भारतीय भाषाएं ऐसी जरूर हैं जिनमें बाल साहित्य का प्रारंभ ही स्वतंत्रता के बाद हुआ है। उदाहरण के लिए मणिपुरी में बाल साहित्य की दिशा में आजादी मिलने के बाद छठे दशक से काम शुरु हुआ था। दिलीप मयेंबम ने इस पुस्तक के लिए लिखे अपने लेख में उचित ही लिखा है कि 'मणिपुरी बाल साहित्य में अभी उन्नति की बहुत आवश्यकता है।') और स्वतंत्रता के बाद की उसकी विधागत प्रवृत्तियों पर तो लिखा है ही साथ ही बाल साहित्य की यथास्थिति और उसके भविष्य पर भी प्रायः बिना किसी लाग-लपेट के चिंतन किया है। उदाहरण के लिए असमिया बाल साहित्य पर लिखते हुए नवारुण वर्मा ने लिखा है- ''असमिया बाल साहित्य की प्रगति जितनी होनी चाहिए, नहीं हो पा रही है। सरकारी उपेक्षा के कारण असमिया माध्यम के विद्यालयों में शिक्षण व्यवस्था भी आशानुरूप नहीं रही। इन सारी स्थितियों का प्रभाव असमिया बाल साहित्य पर पड़ता रहा है।'' लिखा यह भी गया है -''स्वातंत्र्योत्तर में असमिया बाल साहित्य में अत्यधिक विविधता आई है। देश-विदेश के बाल साहित्य का अनुवाद तेजी से हो रहा है। बाल-मन की सोच का दायरा बढ़ा है, हर पत्र-पत्रिका में 'बाल-स्तंभ' अवश्य रहता है।'' शीर्षस्थ लेख नवकांत बरुआ की बालमन की एक बहुत ही मार्मिक, सहज और सुंदर अभिव्यक्ति उनकी कविता 'सबात के आपोन' (सबसे अधिक अपनी) में हुई है-मेरी मां सबसे सुंदर है, ऐसा नहीं कहता। पर मैं उसे सर्वाधिक प्यार इसलिए करता हूँ क्योंकि वह मेरी मां है।

बांग्ला बाल साहित्य पर भी इस पुस्तक में अच्छा लेख है। कहानियों के भी उदाहरण दिए गए हैं। लोक-प्रभाव को भी रेखांकित किया गया है-विशेष रूप से सूचित किया गया है कि ''बंगाल के अलग-अलग अंचलों में एक ही लोक-कथा और 'छड़ा' (बच्चों की तुक प्रधान कविता या गीत के लिए प्रचलित शब्द) के कई-कई रूप प्रचलित हैं।''

रेखांकन : सोमेश कुमार

लेखक संजय भारती का संधान है- ''सीयर वुड नाम की एक अंग्रेज महिला की बांग्ला में बच्चों की कहानी की पुस्तक छोटी हेनरी शीर्षक से 1824 में छपी। इस कहानी का नायक एक अनाथ बालक है। इसके पहले बांग्ला में बच्चों के लिए जो पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं उन सबका ध्येय शिक्षा का नहीं रहा और उनमें से ज्यादातर किसी-न-किसी रूप में पाठ्य-पुस्तक ही रहीं। एक तरह से कहा जा सकता है कि बांग्ला में विशुद्ध बाल साहित्य की पहली पुस्तक छोटी हेनरी थी।'' अच्छा है कि लेखक का ध्यान एक और बहुत जरूरी सत्य पर गया - ''उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक से इसमें (बाल साहित्य में) एक बहुत बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ता है। उस दौर में बहुत से लेखकों ने पाठ्य-पुस्तकों से इतर बच्चों को आनंद और रस प्रदान के लिए लिखना शुरू किया। इस दिशा में मील का पत्थर बनी जोगींद्रनाथ सरकार की 1891 में छपी पुस्तक 'हासी ओ खेला'।'' हम सब जानते हैं कि बांग्ला बाल साहित्य बहुत ही समृद्ध है। इस लेख में भरपूर बानगी है। बहुत ही सुखद और प्रेरक होगा यह जानना कि ''बांग्ला बाल साहित्य बंगाली जीवन से ओत-प्रोत है। इसे नहीं पढ़ने पर बांग्ला में बड़ों के लिखे हुए साहित्य को समझना कई बार कठिन होता है क्योंकि उसके कई सारे प्रसंग बांग्ला के बाल साहित्य से जुड़े हुए होते हैं।'' यह बात मेरी इस धारणा की पुष्टि करती है कि बाल साहित्य सबके लिए होता है। मलयालम बाल साहित्य का इतिहास भी काफी पुराना है और इस पर इस पुस्तक में बी. अशोक का लेख है। इस लेख से मलयालम बाल साहित्य की समृद्धि का भी पता चलता है। पता चलता है कि जहाँ अन्य भाषाओं के पहले के बाल साहित्य की तरह इस भाषा के बाल साहित्य में भी उपदेशात्मकता और पुनराख्यान का बोलबाला रहा है वहां स्वातंत्र्योत्तर 'मलयालम बाल साहित्य विधाओं की विविधता से एकदम समृद्ध है। इसने कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक, इतिहास, विज्ञान, जीवनी, यात्रावृत्त जैसी साहित्यिक विधाओं को खुले दिल से गले लगाया है। इनमें मौलिक भी है, अनुदित भी। लोकजीवन की सामग्री भी है, पुराण और इतिहास से ली हुई भी है।'' इस लेख से पता चलता है कि ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त महाकवि जी. शंकरकुरूप तक ने बाल-मन को ध्यान में रखते हुए बाल-कविता लिखी है। यह बात

अलग है कि ऐसी हस्तियां बहुत अधिक नहीं है। लेखक ने खेद व्यक्त किया है कि 'वे रचनाएं इनी-गिनी ही हैं जिनमें नयापन, मौलिकता एवं प्रभावोत्पादकता भरी पड़ी है... कहना पड़ेगा कि मलयालम के बाल-साहित्य की रचनाओं में से आँख मूंदकर पचास प्रतिशत को हटा दिया जाए तो भी बच्चों के लिए कोई नुकसान नहीं होगा।"

कुछ भाषाएं ऐसी हैं जिनमें बाल-साहित्य के अंतर्गत लोक-साहित्य का अधिक प्रभाव है। संताली का बाल-साहित्य ऐसा ही है जिसका अस्तित्व 1854 ई. से पहले शुरु होता है। संताली में मौखिक साहित्य काफी मिलता है लेकिन लिखित साहित्य भी उपलब्ध है। आधुनिक बाल-साहित्य का आरंभ 1948 ई. से होता है। लेखक यदि अधिक विस्तार से लिखता तो संताली बाल-साहित्य के स्वरूप और संसार को अच्छे से समझने में मदद मिलती। सिंधी भाषा के बाल-साहित्य में भी जहां तक कहानियों की बात है तो मौलिक कहानियों के साथ सबसे अधिक संख्या लोक कथाओं की मिलती है और ये लोककथाएं मूल सिंधी की लोककथाएं भी हैं और अन्य भाषाओं की लोककथाएं भी। जहां तक वर्तमान स्थिति की बात है तो अब बाल-साहित्य का आधार आसपास की दुनिया, जीव-जंतु और विज्ञान आदि होने लगे हैं और बाल मनोविज्ञान का भी ध्यान रखा जा रहा है। लेकिन दुखद है कि "सिंधी पढ़ने वाले बच्चों की संख्या निरंतर घटती गई है।... अपने बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाने की दौड़ लगी हुई है। ...अन्य भाषाओं के अपने-अपने प्रदेश होने के कारण तथा उनकी संख्या करोड़ों में होने के कारण यह स्थिति इतनी नाजुक नहीं बनी।"

मैंने कुछ भाषाओं के बाल-साहित्य पर लिखे लेखों पर केंद्रित अपनी बात यहां रखी है। अपेक्षा है कि पाठक पूरी पुस्तक को पढ़ने के लिए प्रेरित होंगे।

संपादक हरिकृष्ण से अपेक्षा तो यही थी कि वे अपने संपादकीय में बजाए परंपरा और आधुनिकता वाली अर्थात् परी आदि वाली अपनी घिसी-पिटी और जयप्रकाश भारती के जैसे दिग्गज बाल-साहित्यकार के प्रति पूर्वाग्रही अथवा असहिष्णुता भरी बहस के स्थान पर ग्रंथ के लेखों के आधार पर बने किसी भारतीय बाल-साहित्य के स्वरूप को खोज कर प्रस्तुत करने में अपनी ऊर्जा लगाते। खैर, किसी भी सजग और ईमानदार पाठक के गले से यह बात उतर सकती है कि एक लंबे से संपादकीय में बाल-साहित्य की महत्वपूर्ण पत्रिकाओं का उल्लेख हो और सूची से 'नंदन' जैसी महत्वपूर्ण पत्रिका के योगदान को तो छोड़िए, उसका नाम तक गायब हो। नंदन ने परी तक को लेकर आधुनिक दृष्टि से संपन्न नए ढंग की अनेक कहानियां प्रकाशित की हैं और स्वयं संपादक भारती ने राजा तक को एक नए आधुनिक संदर्भ में अपनी कविता में रचा है जिसका उदाहरण बार-बार दिया जाता है। यहां अपने एक प्रकाशित लेख 'हरिकृष्ण देवसरे को क्यों न ठीक से समझ लिया जाए' को याद करते हुए लिखना चाहूंगा कि देवसरे जब पूर्वाग्रही होते थे तो आवेश में परंपरा, पशु-पक्षी, फूल-पत्तियों, परी-राजाओं आदि का घनघोर हाहाकार वाला एकांत विरोध करने लगते थे लेकिन जब वे पूर्वाग्रह से बाहर होकर लिखते थे तो उनका स्वर बदल जाता था और उनकी बात सुचिंतित, संतुलित और ग्राह्य हो जाती थी। उदाहरण के लिए परी कथाओं के संदर्भ उन्हीं का यह संतुलित विचार जानिए जिससे भला किसका विरोध हो सकता है- "परी कथाएं सदियों से बच्चों का मन बहलाती रही हैं। नव-बाल-साहित्य की रचना के सिलसिले में एक आवश्यकता यह भी अनुभव की गई कि बच्चों को झूठे कल्पना लोक से बचाने के लिए जरूरी है कि परी कथाओं के कथ्य को नए आयाम दिए जाएं।" आज हिंदी में (अन्य भाषाओं में भी) प्रकाश मनु, पंकज चतुर्वेदी आदि की परी के कलात्मक अनुभव से संपन्न अनेक उत्कृष्ट कहानियां उपलब्ध हैं। इस संदर्भ में स्वयं अपनी कहानी 'आँखें मूंदो नानी' और नाटक 'मुसीबत की हार' तथा 'मैं भी परी हूं' का भी जिक्र करना चाहूंगा। पुस्तक के लेखों से भी स्पष्ट है कि बाल-साहित्य न पशु-पक्षियों के बालसुलभ अनुभव से वंचित रह सकता है और न ही फूल-पौधे के कलात्मक अनुभव से। बाल-साहित्य में विषयवादी सोच का कोई महत्व नहीं होता बल्कि कलात्मक अनुभव का होता है।

निःसंदेह इस पुस्तक के माध्यम से भारत की 24 भाषाओं के बाल-साहित्य का आदि से अब तक का परिदृश्य, जिसमें चिंतन, चुनौतियां और संभवानाएं भी मौजूद है, को सामने लाने में इतने ही लेखकों के योगदान की प्रशंसा तो करनी ही होगी, भले ही बहुत-सी सीमाएं भी रह गई हों। लेखकों ने अपनी-अपनी शैली अपनाई है। पैटर्न एक समान नहीं है। मोटे तौर पर अपनी-अपनी भाषा के बाल-साहित्य को स्वतंत्रता से पूर्व और स्वतंत्रता के बाद के बाल-साहित्य के रूप में बांटकर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भारतीय बाल साहित्य की एक तस्वीर बनाने में इस ग्रंथ की, सजग पाठकों को कुछ-न-कुछ मदद मिलेगी ही। कम-से-कम किसी बेहतर संपादक को इस दिशा में बेहतर काम करने की प्रेरणा भी मिलेगी ही। ■

लिपि की लड़ाई

■ **कंवल भारती**
दलित चिंतक

संपर्क : सी-260/6,
आवास विकास कॉलोनी,
गंगापुर रोड, सिविल लाइन्स,
रामपुर-244901 (उ.प्र.)

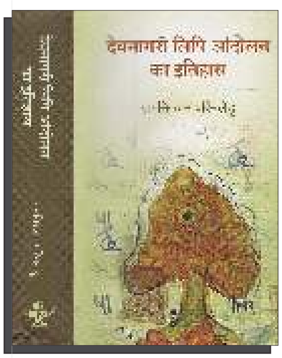

पुस्तक : देवनागरी लिपि आंदोलन का इतिहास
लेखक : रामनिरंजन परिमलेंदु
प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 756
मूल्य : रु. 650

रामनिरंजन परिमलेंदु की किताब 'देवनागरी लिपि आंदोलन का इतिहास' को पढ़कर पहली प्रतिक्रिया यही हुई कि लेखक ने कमाल का काम किया है। यह महत्वपूर्ण अनुसंधान है, जो देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा के आंदोलन के क्रमिक विकास को दर्शाता है। यद्यपि, लेखक के अनुसार, सबसे पहले ईस्ट इंडिया कंपनी ने कानून बनाकर, जो 1 मई 1793 को लागू हुआ था, देवनागरी लिपि को सरकारी स्वीकृति प्रदान कर दी थी और 1809 में उसने सरकारी सिक्कों पर भी फारसी के साथ-साथ देवनागरी लिपि भी लिखवाने का काम किया था, किंतु लेखक आगे बताता है कि इसके 26 साल बाद 1835 में उसने सिक्कों से देवनागरी को हटा दिया था। (पृ. 21), किंतु गदर के बाद, जब भारत का शासन महारानी विक्टोरिया के हाथों में आया, तो उसने 1867 के कानून से देवनागरी को बिलकुल हटा दिया, और उसके स्थान पर उर्दू को स्थान दिया। अब फ़ारसी का स्थान अंग्रेजी ने और देवनागरी का स्थान उर्दू ने ले लिया था। लेखक ने यहां एक महत्वपूर्ण जानकारी दी है कि अनेक अंग्रेज विद्वानों ने फारसी लिपि की त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाया था। इनमें एक प्रोफेसर मोनियर विलियम्स थे, जिन्होंने लंदन के 'टाइम्स' में 31 दिसंबर 1858 को लिखा था कि भारतीय मुसलमान फारसी पूरित अरबी तालिक का इस्तेमाल करता है, जो टूटी लेखन पद्धति है। उसने अपने लेख में इस बात का भी उल्लेख किया कि 'देवनागरी लिपि में दो अक्षरों, जिनका प्रतिनिधित्व रोमन लिपि में 'जेड' और 'एफ' से किया जाता है, के अभाव के बावजूद यह संसार की सभी ज्ञात वर्णमालाओं में सर्वाधिक श्रेष्ठ, पूर्ण और अनुशासित है। (पृ. 40-41)

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, लेखक बताता है कि, देवनागरी लिपि के आंदोलन को आगे बढ़ाने का पहला काम जिस व्यक्ति ने किया था, वह गैर-हिंदी क्षेत्र कलकत्ता के डॉ. राजेंद्र लाल मित्र (1824-1892) थे। वह पहले भारतीय थे, जिन्होंने 1864 में बंगाल के एशियाटिक जर्नल में 'ऑन दि ऑरीजिन ऑफ दि हिंदवी लैंग्वेज एंड इट्स रिलेशन टू दि उर्दू' लेख लिखकर ''देवनागरी लिपि को हिंदवी और उर्दू भाषाओं की लिपि के रूप में अपनाए जाने की आवश्यकता पर बल दिया था।'' (पृ. 54) इसके बाद हिंदी क्षेत्र से सर्वप्रथम हिंदी साहित्यकार राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद (1823-1895) का योगदान उल्लेखनीय है, जिन्होंने सरकारी स्तर पर देवनागरी लिपि के प्रचलन के लिए सरकार को ज्ञापन दिया था। वह इस बात से क्षुब्ध थे कि ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता पर फारसी लिपि के रूप में उर्दू को लाद रही थी। उन्होंने अपने ज्ञापन में लिखा था कि हम फारसी के अध्ययन से फारसीदां हो जाते हैं, हमारे सभी विचार भ्रष्ट हो जाते हैं और हमारी राष्ट्रीयता विलुप्त हो जाती है। वह फारसी-उर्दू को हिंदुओं को अर्द्ध-मुसलमान बनाने और हिंदू राष्ट्रीयता को नष्ट करने वाली भाषा के रूप में देखते थे। (पृ. 57)

किंतु लेखक के अनुसार यह दिलचस्प है कि संपूर्ण भारत में मध्यप्रदेश पहला प्रांत था, जहां न्यायिक विभाग में देवनागरी लिपि ही नहीं, बल्कि हिंदी भाषा को भी स्वीकृति प्राप्त हुई थी। (पृ. 59)

परिमलेंदु लिखते हैं कि देवनागरी लिपि और हिंदी के आंदोलन ने तीव्र गति, तब पकड़ी, जब 1882 में शिक्षा-सुधारों के लिए, डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर की अध्यक्षता में गठित शिक्षा आयोग ने महत्वपूर्ण लोगों से साक्ष्य लेने शुरू किए। इस आयोग के गठन के बाद लोगों में हिंदी भाषा और लिपि के प्रति नया जागरण और उत्साह पैदा हुआ। लेखक के अनुसार, इलाहाबाद से चार हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षरित ज्ञापन आयोग को दिए गए। लाहौर में साठ हजार लोगों ने ज्ञापन दिए, लेकिन पंजाब से हिंदी के विरोध में पचास हजार ज्ञापन आयोग को सौंपे गए। कलकत्ता से प्रकाशित 'सारसुधानिधि' ने 4 सितंबर 1882 को हिंदी के पक्ष में संपादकीय लिखा कि कम-से-कम दो लाख लोगों के हस्ताक्षरयुक्त ज्ञापन आयोग को दिए जाएं। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने विशेष साक्ष्य में आयोग को बताया कि इंग्लैंड और अन्य यूरोपीय देशों की तरह भारत में भी प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाए और जनता की भाषा को ही अदालती भाषा बना दिए जाएं किंतु ये सारे प्रयास निष्फल हुए। 1884 में प्रकाशित आयोग की रिपोर्ट में हिंदी लिपि और भाषा की सिफारिशें स्वीकार नहीं की गईं। पंडित राधाचरण गोस्वामी ने अपने मासिक पत्र 'भारतेंदु' में लिखा कि ''यह शिक्षा कमीशन नहीं था,

बल्कि हिंदी के लिए कोर्ट मार्शल लॉ था।'' हिंदी जगत में इसी तरह की प्रतिक्रियाएं सब तरफ से आईं। इलाहाबाद के कवि पंडित शिवराम पंड्या ने लावनी में लिखा-

हंटर ने जो हिंदी को हंटर मारा।
बस टूट गया दिल टुकड़े हुआ हमारा।
(पृ. 64-78)

लेखक ने ठीक ही लिखा है कि देवनागरी लिपि आंदोलन में कायस्थों की भागीदारी नहीं थी, जिसके कारण इस आंदोलन को भरपूर गति नहीं मिल पा रही थी। हिंदुओं में कायस्थ समुदाय अपनी परंपरागत शिक्षा में उर्दू-फारसी पढ़ने-लिखने का अभ्यस्त था, इसलिए वह हिंदी के आंदोलन में तटस्थ था। इस तरह भाषा का आंदोलन हिंदी और उर्दू के संघर्ष में विभाजित हो गया था। हिंदी वाले उर्दू का विरोध उसे त्रुटिपूर्ण और अदालती कामकाज के लिए अयोग्य बताकर करते थे। (पृ. 80) किंतु मुसलमान और कायस्थ कर्मचारीगण अदालतों में देवनागरी के पक्ष में बिलकुल नहीं थे। वे नौकरियों में बने रहने के लिए सत्ता की भाषा जल्दी सीख लेते थे, क्योंकि वह रोजगार से जुड़ी भाषा थी। इसलिए वे ब्रिटिश काल में भी अंग्रेजी पढ़कर उन्नति कर रहे थे।

लेखक लिखता है कि ''सत्य तो यह है कि जन शिक्षा की दृष्टि से उर्दू के विकल्प में सरकारी न्यायालयों में हिंदी और उसकी लिपि की प्रतिष्ठापना ही वास्तविक समस्या थी।'' इस समस्या को हल करने के लिए, 1897 में मदनमोहन मालवीय ने सरकार को 'हिंदुस्तानी' का विकल्प दिया। उन्होंने सरकार को दिए अपने ज्ञापन में कहा कि भाषा हिंदुस्तान की हिंदुस्तानी हो, जिसमें प्रतिदिन की बोलचाल की भाषा हो। उसमें न फारसी-अरबी के कठिन शब्द हों, और न संस्कृत के। यह नागरी अक्षरों में लिखी जानी चाहिए। (पृ. 94-97)

पर, चूंकि सरकारी आदेश से नौकरियों में नियुक्ति के लिए उर्दू अथवा फारसी का ज्ञान आवश्यक था, इसलिए इस स्थिति में परिवर्तन करने की सरकार की कोई इच्छा नहीं थी।

परिमलेंदु लिखते हैं कि देवनागरी लिपि और हिंदी के आंदोलन ने तीव्र गति, तब पकड़ी, जब 1882 में शिक्षा-सुधारों के लिए, डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर की अध्यक्षता में गठित शिक्षा आयोग ने महत्वपूर्ण लोगों से साक्ष्य लेने शुरू किए। इस आयोग के गठन के बाद लोगों में हिंदी भाषा और लिपि के प्रति नया जागरण और उत्साह पैदा हुआ। लेखक के अनुसार, इलाहाबाद से चार हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षरित ज्ञापन आयोग को दिए गए। लाहौर में साठ हजार लोगों ने ज्ञापन दिए, लेकिन पंजाब से हिंदी के विरोध में पचास हजार ज्ञापन आयोग को सौंपे गए।

इससे हिंदी भाषी लोगों के लिए सरकार में रोजगार से वंचित रहना पड़ता था, जबकि उर्दू पढ़े-लिखे लोग आसानी से सरकारी नौकरी पा जाते थे।

लेखक एक महत्वपूर्ण जानकारी यह देता है कि ''1891 की जनगणना में पश्चिमोत्तर प्रदेशों में नियुक्त परिगणकों में से 80,118 ने देवनागरी और हिंदी, 40,197 ने देवनागरी लिपि का रूपांतर कैथी लिपि अर्थात् 1,20,315 ने हिंदी भाषा और मूलतः नागरी लिपि और 54,244 ने फारसी लिपि में कार्य-निष्पादन किए। जब वहां गांवों में पाठशालाओं का आरंभ हुआ तो देवनागरी लिपि में हिंदी के छात्रों की संख्या उर्दू के छात्रों की अपेक्षा छह गुनी अधिक थी।'' (पृ. 102)

लेखक के अनुसार, उन्नीसवीं शताब्दी में नगरपालिकाओं में हिंदी का प्रवेश नहीं था। इसके विरुद्ध, पहली आवाज हिंदी के पक्ष में 1883 में साहित्यकार पंडित राधाचरण गोस्वामी ने उठाई थी। उन्होंने अपने पत्र 'भारतेंदु' में इस संबंध में जोरदार संपादकीय लिखा था। लेखक ने बड़ी मेहनत से इस सदी की कविताओं, व्यंग्यपूर्ण लेखों, निबंधों, व्यंग्यचित्रों और संपादक के नाम पाठकों के पत्रों में देवनागरी की गूंज-अनुगूंज का अध्ययन किया है और देवनागरी बनाम फारसी लिपि के संघर्ष को दिखाया है। बानगी के तौर पर ये पंक्तियां दृष्टव्य हैं, जो लेखक ने रामवचन द्विवेदी 'अरविंद' की कविता 'उर्दू लिपि और नागरी' से ली हैं :

''अब देखिए उर्दू इधर
जिसका सुभग शृंगार है।
लिखते 'दुआ' पढ़ते 'दगा'
कहते 'सुनार' 'सितार' है।
बांचे 'कबाब' 'किताब' को,
'किस्ती' कहें 'कस्वी' अहा।
'चाची' बनी 'हाजी' कहो,
अब और क्या बाकी रहा।''
(पृ. 116)

इस कविता में उर्दू की त्रुटियां दिखाने वाले कवि को संभवतः उर्दू का ज्ञान नहीं था। क्योंकि, इसमें कही बातें सही नहीं हैं-नदुआकोदगा पढ़ा जाएगा, न सुनार को सितार, कबाब भी किताब नहीं बन सकता, क्योंकि 'बे' को 'ते' पढ़ना मूर्खता ही होगी। इसी तरह 'किस्ती' को भी 'कस्वी' नहीं पढ़ा जा सकता है इसमें 'ते' को 'वाव' तो उर्दू से अनभिज्ञ ही समझ सकता है।

लेखक ने आगे एक महत्वपूर्ण जानकारी दी है कि 2 मार्च 1898 को राजभवन, इलाहाबाद में पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेंट गवर्नर और मुख्य आयुक्त सर एंटोनी मैकडोनेल से सतरह प्रमुख व्यक्तियों का एक शिष्टमंडल मिला, जिसमें पंडित सुंदर लाल और पंडित मदनमोहन मालवीय भी शामिल थे। इस शिष्टमंडल ने देवनागरी के पक्ष में जो मांगपत्र दिया था, जाहिर है कि उर्दू वालों ने

उसका विरोध किया था। किंतु इसके बाद भी हिंदी के पक्ष में लगातार ज्ञापन दिए जाते रहे। अंततः 18 अप्रैल 1900 को सरकार को देवनागरी के पक्ष में राजाज्ञा जारी करनी पड़ी। राजाज्ञा में कहा गया कि सरकारी कार्यालयों और अदालतों में फारसी के साथ-साथ देवनागरी में भी प्रार्थना-पत्र दिए जा सकते हैं और सरकारी प्रपत्र भी फारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में छापे जाएंगे। (पृ. 126)

लेखक बताता है कि इस अल्प सफलता के लिए हिंदी जगत के मूर्धन्य लोगों के द्वारा रानी विक्टोरिया और गवर्नर की प्रशंसा में कसीदे काढ़े गए। बाबू राधाकृष्ण दास ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में लिखा -'हमारी प्रजावत्सला महारानी ही का राजत्व था कि तीन सौ वर्षों के पीछे हिंदी ने राजकाज में आदर पाया।' (पृ. 132)

किताब के तीसरे अध्याय में राष्ट्रलिपि आंदोलन पर चर्चा की गई है। इस विषय के अध्ययन में, जैसा कि लेखक ने स्पष्ट किया है, अत्यंत दुर्लभ सामग्री को आधार बनाया गया है। लेखक का विचार है कि हिंदी को संपूर्ण भारतव्यापिनी राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण पद प्रदान किए जाने का भव्य स्वप्न सर्वप्रथम राधालाल माथुर ने देखा था, जो हिंदी के सर्वप्रथम शब्द कोशकार थे। लेकिन राष्ट्रलिपि देवनागरी के प्रथम मंत्रद्रष्टा उनके विचार से 'हिंदी प्रदीप' के संपादक बालकृष्ण भट्ट ही थे। (पृ. 188-89)

इस धारा में उन्होंने पंडित बलभद्र मिश्र, सर गुरुदास बनर्जी, रामकृष्ण शर्मा, पंडित केशव वामन पेठे, सर जान वुडवर्न, बालमुकुंद गुप्त, श्याम सुंदरदास, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पंडित सतीशचंद्र विद्याभूषण, न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्र, एडविन ग्रीव्ज, लोकमान्य तिलक, रमेशचंद्र दत्त, माधव राजाराम बोडस, वी. कृष्णास्वामी अय्यर, पंडित माधो राम, भदंत आनंद कौसल्यायन, माखनलाल चतुर्वेदी, ठाकुर राम सिंह, भीमसेन विद्यालंकार, राहुल सांकृत्यायन, सेठ गोविंददास आदि विद्वानों के विचारों को प्रस्तुत किया है, जो वास्तव में श्रमसाध्य कार्य है। लेखक ने इन विद्वानों के विचारों के क्रम में इतिहास की गति का बहुत ध्यान रखा है। इतिहास तारीखों का ही खेल है। अकादमिक कार्य में अगर इसका अनुपालन न किया जाए तो वह एक भावुक रिपोर्ट तो हो सकती है, इतिहास नहीं हो सकता।

किंतु, यह देखना दिलचस्प है कि देवनागरी लिपि का आंदोलन स्वतंत्रता के बाद भी जारी रहता है। दिसंबर 1947 में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का 35वां अधिवेशन बंबई में हुआ था, जिसमें अध्यक्ष पद से महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी की वकालत करते हुए उसे रोमन के मुकाबले दुनिया की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि बताया था। (पृ. 248-49)

लेखक ने रेखांकित किया है कि 1961 में मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन में तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रलिपि की दिशा में एक बहुत ही सकारात्मक प्रस्ताव पास हुआ था, जिसमें कहा गया था कि भारत की सब भाषाओं के लिए एकमात्र लिपि देवनागरी ही हो सकती है, और इसके लिए कार्य योजना बनानी चाहिए। किंतु भारत सरकार ने इस प्रस्ताव पर अमल नहीं किया। (पृ. 255-56)

लेखक ने उद्घाटित किया है कि लेखकों के साथ-साथ राजनीतिकों ने भी देवनागरी के पक्ष में वक्तव्य दिए थे, जिनमें ज्ञानी जैल सिंह और आर. वेंकटरामन मुख्य थे। किंतु आर. वेंकटरामन का मत था कि कुछ दिनों के लिए हिंदी को कई लिपियों में लिखे जाएं लेखक ने वेंकटरामन के इस मत की ठीक ही आलोचना की है कि उनका मत ''भाषा के क्षेत्र में अराजकता उत्पन्न करने वाला था।'' वह लिखते हैं कि ''राजभाषा हिंदी की एकमात्र लिपि देवनागरी है। इसे अनेक लिपियों में लिखने की अनुमति भारत का संविधान नहीं देता है।'' (पृ. 259)

रामनिरंजन परिमलेंदु ने चौथे अध्याय में देवनागरी लिपि के आंदोलन में देशी रजवाड़ों के योगदान पर चर्चा की है। इसमें अयोध्या नरेश प्रतापनारायण सिंह ने 1900 में और अलवर राज्य ने 1909 में राज्य में नागरी प्रचार का आदेश जारी किया था। सबसे ज्यादा योगदान इंदौर के होलकर राज्य का है। लेखक के अनुसार 17 वीं सदी तक मराठा राज्य के सभी शासकीय कार्य मराठी भाषा में होते थे किंतु उसके बाद 18 वीं सदी के पूर्वार्द्ध में उसने हिंदी को संपर्क भाषा बनाया। होलकर राज्य के अधिकांश ताम्रलेख देवनागरी लिपि में ही हैं। इस राज्य की राजकीय मुद्राएं भी देवनागरी में थीं। कोटा, ग्वालियर और छतरपुर के रजवाड़ों ने भी देवनागरी को आगे बढ़ाया था। जयपुर, झालावाड़, देवास, पन्ना, बनारस, बड़ोदरा, बीकानेर, भरतपुर, रीवा, सीतापुर, रामपुर और मथुरा, मारवाड़ और संबलपुर रियासतों के योगदान को भी लेखक ने रेखांकित किया है। (पृ. 284-308)

पुस्तक का पांचवां अध्याय बिहार के लिपि आंदोलन पर है, जिसकी शुरुआत लेखक ने 1873 ई. में प्रकाशित बिहार के पहले हिंदी साप्ताहिक पत्र 'बिहार बंधु' से की है। लेखक ने इस पत्र के 27 दिसंबर 1883 के संपादकीय से एक अंश उद्धृत किया है, जिसमें एक जगह आया है- ''दस बरस पहले एक समन पढ़ने के लिए देहात में लोगों को हैरान होना पड़ता था। खोजते-ढूंढते अगर कोई उर्दू-फारसी के मौलवी मिल गए, तो क्या मजाल कि मौलाना उस शिकस्त और फेंक-फांक वाली नामी कचहरिया उर्दू पढ़ लें, लाचार होकर रह जाते थे।'' लेखक ने इन पंक्तियों को बिहार के लिपि आंदोलन की पृष्ठभूमि की संक्षिप्त झांकी कहा है। उसके अनुसार, ''बिहार की कचहरियों में देवनागरी लिपि की मान्यता के लिए सर्वाधिक प्रभावकारी आंदोलन 'बिहार बंधु' ने ही किया और इसमें उसे सफलता भी मिली थी।'' (पृ. 319)

लेखक ने एक महत्वपूर्ण जानकारी यह

दी है कि डॉ. जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपने भारतीय भाषा सर्वेक्षण के खंड 1 भाग 1 में कहा था कि संपूर्ण बिहार में जो लिपि लिखी जाती है, वह 'कैथी' है। उनका सुझाव था कि बिहार की कचहरियों में मैथिली, भोजपुरी या मगही में से कोई एक बोली जानी चाहिए। यह सुझाव अच्छा था। इससे इन बोलियों का विकास होता पर लेखक के अनुसार 'बिहार बंधु' ने इस सुझाव का विरोध किया। उसने लिखा कि ग्रियर्सन साहब हमारी प्यारी जुबान को मुल्क से निकालकर उसकी जगह पर गंवारी और भद्दी मगही, मैथिली या भोजपुरी को कायम करना चाहते हैं। (पृ. 329-331)

लेखक लिखता है कि 'बिहार बंधु' के विरोध का सरकार पर कोई असर नहीं पड़ा और सरकार ने देवनागरी अक्षरों का परिवर्तन कैथी लिपि के रूप में कर दिया। इसी कैथी में बिहार का गजट छापा गया, जो बकलम 'बिहार बंधु', भद्दा, कुरूप और संदिग्ध था और बड़ी-बड़ी मुश्किलों से भी नहीं पढ़ा जाता था।

लेखक के अनुसार, 1880 के दशक में बिहार में कैथी लिपि में विद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन शुरू हो गया था। 1885 में कैथी में छपी 'प्रथम भूगोल' की आलोचना 'बिहार बंधु' ने की थी, जिसमें उसने कहा था- "पृथ्वी की जगह पिरथिवी, समुद्र की जगह समुंदर, दक्खिन की जगह दखिन, ध्रुव की जगह धुरब, वृतांत की जगह विरतानत छपा है। हाय हमने क्या अपने लड़कों को स्कूल में इसी वास्ते भेजा था कि अपनी अच्छी बोलचाल भी बिगाड़ आवें?" (पृ. 335)

कैथी के विरोध का असर हुआ और परिणामतः 1893 में सरकार ने व्यापक विचार-विमर्श के बाद बिहार की सरकारी कचहरियों में देवनागरी लिपि के प्रयोग की आज्ञा मिल गई। (पृ. 339) लेकिन कैथी लिपि बनी रही, क्योंकि कैथी लिपि की अपेक्षा नागरी हिंदी सीखने के प्रति जनता में उदासीनता थी। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि कैथी साधारण लोगों की लिपि थी और देवनागरी भद्र लोगों की।

स्थिति तब और भी बिगड़ गई, जब 1937 में बिहार में अंतरिम सरकार का गठन हुआ और उसने बिहार की अदालतों में वैकल्पिक रूप से फारसी लिपि का व्यवहार किए जाने की आज्ञा दे दी। जातीय दृष्टि से बिहार की स्थिति जटिल थी। उसमें आदिवासी जातियां भी थीं, जिनकी भाषा अलग थी। उनकी लिपि का भी प्रश्न सरकार के समक्ष विचारणीय था। 1940 में पटना विश्वविद्यालय ने आदिवासी भाषा संथाली को भी मान्यता दे दी। इसके लिए देवनागरी लिपि को ही स्वीकृत किया गया, जिससे देवनागरी के प्रचार को बल मिला। लेखक लिखता है कि स्वतंत्र भारत में हिंदी राजभाषा हुई और उसकी एकमात्र लिपि देवनागरी हो गई किंतु वोट की राजनीति के कारण 1976 के बाद बिहार सरकार ने उर्दू को दूसरी राजभाषा घोषित कर दिया, जबकि इसके लिए कहीं से आवाज नहीं उठाई गई थी। (पृ. 352-53)

लेखक ने छठे अध्याय में भारतेंदु काल की प्रमुख पत्रिकाओं और देवनागरी लिपि आंदोलन पर प्रकाश डाला है। इसमें कुछ पत्रिकाओं के संपादकीय लेखों के अंश और कुछ कवियों की कविताओं के उद्धरण दिए गए हैं। उदाहरण के लिए कालाकांकर, जिला प्रतापगढ़ से प्रकाशित 'दैनिक हिंदोस्थान' में छपी राधाचरण गोस्वामी की कविता की ये पंक्तियां -

हुआ कोई नहीं हिंदी का मददगार कभी।
छुटेगा दोस्तों इसका भी ये आजार कभी।
जबां उर्दू का अब रुतबा बढ़ा इतना अफसोस,
वो पाएगी अदालत से भला फिटकार कभी।
(पृ. 400)

इसी तरह, कानपुर से प्रकाशित 'ब्राह्मण' पत्र के 15 अप्रैल 1884 के संपादकीय लेख का यह अंश - "हमारे देशभक्तों को श्रम, साहस और विश्वास चाहिए, हम निश्चयपूर्वक कहते हैं कि यदि हमारे आर्य भाई अधीर्य न होंगे, तो एक दिन अवश्य होगा कि भारत वर्ष भर में नागरी देवी राज्य करेंगी और उर्दू बीवी अपने सगों के घर में बैठी कोदो दरैंगी।" (पृ. 406) यहां हम देख सकते हैं कि हिंदी का प्रश्न आर्यत्व और हिंदुत्व का भी प्रश्न भी बन गया था।

देवनागरी लिपि आंदोलन में हिंदी नाटकों के योगदान पर केंद्रित है पुस्तक का सातवां अध्याय। इसमें संदेह नहीं कि लोकरंग और नाटक भाषा के स्तर पर सीधा प्रभाव डालते हैं। लेखक ने लिखा है कि देवनागरी संबंधी नाटकों की रचना भारतेंदु हरिश्चंद्र के जीवनकाल में और उनके निधन के बाद हुई थी। लेखक ने इस अध्याय में पंडित रविदत्त शुक्ल कृत नाटक 'देवाक्षरचरित्र' (1884), सोहनलाल मुदर्रिस कृत 'हिंदी और उर्दू की लड़ाई' (1885), रामगरीब चतुर्वेदी कृत 'नागरी विलाप' (1885), पंडित गौरीदत्त कृत 'सर्राफी नाटक' (1890), रतनचंद्र वकील कृत 'हिंदी-उर्दू का मुकदमा' (1890), तथा पंडित देवकीनंदन त्रिपाठी कृत दो एकांकियों- 'हाकिम का सुन्याव' और 'मार्ग में दो विदेशी और एक प्रयागवासी' (1894), का अध्ययन किया है। साहित्य-रस की दृष्टि से यह अध्याय बेहद पठनीय है।

लेखक ने मोहनदास करमचंद गांधी के विचारों से लिपि आंदोलन को देखने का प्रयास किया है आठवें अध्याय में, तो नवें अध्याय में काका कालेलकर के अवदान का उल्लेख किया है। अंतिम दसवें अध्याय में जवाहरलाल नेहरू, डॉ. राजेंद्र प्रसाद, किशोरलाल घनश्याम मशरूवाला और विनोबा भावे के विचारों के आलोक में देवनागरी लिपि आंदोलन पर बृहत् प्रकाश डाला है।

परिशिष्ट में दुर्लभ अभिलेखों को भी लेखक ने सुलभ अवलोकनीय बना दिया है। हिंदी में संभवतः यह पहला कार्य है, जिसमें लेखक का श्रम सराहनीय है। ■

कथा एक दुर्धर्ष जीवन की

■ **अखिलेश कुमार दुबे**
साहित्यकार

संपर्क : प्रोफेसर,
हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

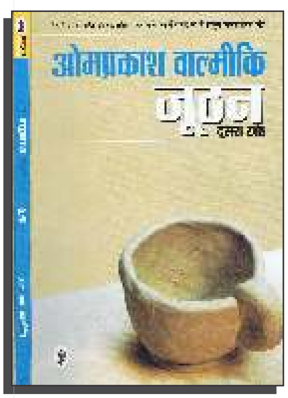

पुस्तक : जूठन दूसरा खंड
लेखक : ओमप्रकाश वाल्मीकि
प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2015
पृष्ठ : 152
मूल्य : रु. 150

'जूठन', दूसरा खंड प्रसिद्ध दलित चिंतक, साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा का दूसरा भाग है। आत्मकथा का प्रथम भाग 'जूठन' शीर्षक से 1999 ई. में राजकमल प्रकाशन से विधिवत् प्रकाशित हुआ था। विधिवत् इसलिए क्योंकि प्रसिद्ध पत्रकार राजकिशोर ने 'आज के प्रश्न' शृंखला में 'हरिजन से दलित' नाम से दूसरी पुस्तिका में 1994 में ही उनके आत्मकथा सरीखे हिस्से को छापा था। पुस्तिका में प्रथम लेख वाल्मीकि का ही रखा गया, जिसका शीर्षक था 'एक दलित की आत्मकथा।' अत्यंत कठिन परिस्थितियों व दुविधा में जीते हुए, अपने भोगे हुए जीवन को लिखना एक बड़ी चुनौती थी और यह चुनौती तब और बड़ी हो जाती है, जब भोगा हुआ यथार्थ असामान्य हो, जिसमें अँधेरा ही अँधेरा हो, अवसाद हो। जीने के अवसर ही न हों। ऐसे में यथार्थ को अपनी स्मृति के सहारे 'रिक्रिएट' करना लेखक के लिए एक विकट चुनौती थी। इस कठिनाई को वाल्मीकि जी ने अपनी आत्मकथा के दोनों ही भागों में रेखांकित किया है, भोगे हुए समय की कथा लिखना, फिर से उस व्यतीत समय की कटुताओं, सामाजिक अभिशाप को भोगना था। इसलिए राजकिशोर के अल्टीमेटम दे देने के बाद ही लिखना संभव हुआ था, किंतु प्रकाशित होने पर पाठकीय प्रतिक्रियाओं ने लेखक को अपनी आत्मकथा लिखने के लिए आवश्यक मानसिक तैयारी दे दी और परिणाम 'जूठन' प्रकाशन के रूप में आया। यहां यह कहने में कोई बड़बोलापन नहीं होगा कि 'जूठन' ने यह बात निर्मूल कर दी कि हिंदी का दलित साहित्य मराठी के सामने खड़ा नहीं हो सकता है। जूठन की वजह से हिंदी में दलित साहित्य को और उसमें आत्मकथा की विधा को व्यापक स्वीकृति व लोकप्रियता प्राप्त हुई। हिंदी के पाठकों ने 'जूठन' को हाथों-हाथ लिया और वाल्मीकि, स्थापित दलित आत्मकथाकारों की सूची में अग्रगण्य हो गए।

रेखांकन : सोमेश कुमार

'जूठन' भाग-एक में ओमप्रकाश वाल्मीकि के बचपन, युवा होने, शिक्षा प्राप्त करने के दौरान किए गए संघर्ष, पग-पग पर जातिवादी, वर्णवादी, सामंतवादी, सामाजिक व्यवस्था के दोषों को झेलने व उनका तीखा विरोध करने की कथा है। इस हिस्से में लेखक के आयुध-निर्माणी में नौकरी करने के भी किस्से हैं। नौकरी, वह भी ठीक-ठाक, वाल्मीकि को सामाजिक रूप से होने वाली प्रताड़ना से मुक्ति दिलाने में दम तोड़ रही थी, क्योंकि हमारी पारंपरिक समाज व्यवस्था, कर्म-श्रेष्ठता की जगह वर्ण-श्रेष्ठता, जाति-श्रेष्ठता के आग्रह को ही पाले हुए है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस बारे में प्रामाणिक टिप्पणी की है- ''भारतीय समाज में जाति एक महत्वपूर्ण घटक है। 'जाति', पैदा होते ही व्यक्ति की नियति तय कर देती है। पैदा होना व्यक्ति के अधिकार में नहीं होता है। यदि होता है, तो मैं भंगी के घर पैदा क्यों होता? जो स्वयं को इस देश की, महान सांस्कृतिक धरोहर के तथाकथित अलमबरदार कहते हैं, क्या वे अपनी मर्जी से उन घरों में पैदा हुए हैं? हां इसे जस्टीफाई करने के लिए अनेक धर्मशास्त्रों का सहारा जरूर लेते हैं। वे धर्मशास्त्र जो समता, स्वतंत्रता की हिमायत नहीं करते, बल्कि सामंती प्रवृत्तियों को स्थापित करते हैं।'' (पृ. 159-160)

वाल्मीकि की उक्त टिप्पणी, बहुत संक्षेप में हमारी पारंपरिक समाज व्यवस्था की सच्चाई को सामने ला देती है। लाभ और लोभ के लिए शास्त्रीय मान्यताओं की व्याख्या करना, यह सामान्य व्यवहार या चलन जैसा लगता है, लेकिन यह सच है कि यह सब सदियों से होता आया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि को समाज की जड़ मान्यताओं और सामंती मूल्यों से कदम-कदम पर टकराना पड़ा था। मसला, चाहे उनके प्राइमरी स्कूल में

पढ़ने का हो, कार्यालय में काम करने का हो, लोगों से मिलने-जुलने का व्यक्तिगत अनुभव हो। तल्ख है, लेकिन एक बात जो वाल्मीकि के बारे में विशेष रूप से उद्धृत करने योग्य है कि वे शुरू से ही आत्म-चेतना संपन्न, विवेकी, वर्ण-जाति की भयावहताओं की समझ वाले प्रतिबद्ध और जुझारू व्यक्ति और रचनाकार थे। वे सही बात के लिए कभी कोई समझौता नहीं करते थे और गलत बात को बर्दाश्त नहीं करते थे। एक सरकारी नौकर होते हुए, नौकरी की तमाम ऊंच-नीच, डर-भय की परवाह न करते हुए उन्होंने चाहे जो भी हो, हमेशा निडर भाव के साथ सिद्धांत का ही पक्ष लिया। इसके लिए उन्हें बड़ी से बड़ी कीमत चुकानी पड़ती थी। ट्रांसफर से लेकर बेकार के विभागों में नियुक्ति तक की सजा भोगनी पड़ती थी। तब भी वाल्मीकि के लेखन, उनकी अभिव्यक्ति के तेवर में, आक्रोश में कोई कमी नहीं आई। 'जूठन' भाग-दो में वाल्मीकि की नौकरी की अवधि व सेवानिवृत्त होने व बेहद गंभीर रूप से बीमार होने की कथा अंकित है।

जूठन भाग-दो में ओमप्रकाश वाल्मीकि को अपनी तमाम शैक्षिक व तकनीकी योग्यताओं के बावजूद मात्र वाल्मीकि सरनेम की वजह से प्रताड़ना/उलाहना और अवमानना के अनगिनत प्रकरण दर्ज हैं, किंतु लेखक का जीवन और उसकी मूल्यदृष्टि खुलकर सामने आती है। वाल्मीकि को प्रायः उनके सरनेम, यूं कहे कि, उनकी प्रतिभा को कम आंकने के दुराग्रहों के शिकार होने पड़ते थे। उन्होंने ऐसे ढेरों उल्लेख किए हैं। उन्हीं में से एक यहां प्रस्तुत है ''वाल्मीकि... वह भी डिजाइनर...? उनकी कल्पना से बाहर था, एक वाल्मीकि का इस पद पर आना।'' किस तरह का काम किया है, अभी तक...? सेठी जी ने बिना मेरी बात सुने अगला सवाल किया।

मुझे लगा कि ये श्रीमान वही सुनना चाहते हैं, जिसके वे आदी हैं, इसलिए मैंने साफ-साफ कहा, ''छोड़िए... इन बातों को आप जो भी काम देंगे मैं करूंगा। मेरे इस आत्मविश्वास से जैसे वे कुढ़ गए थे। उनके चेहरे पर एक अजीब-सी भाव-मंगिमा परिलक्षित हुई थी। चैलेंज करने की मुद्रा में बोले 'मिस्टर! यहां डिजाइनिंग का काम है, इसमें दिमाग लगाना पड़ता है। साथ ही रशियन ड्राइंग्स हैं, जिन्हें समझना हर किसी के बस का नहीं है।''(पृ. 15) उक्त प्रकरण देहरादून की आर्डनेंस फैक्ट्री में वाल्मीकि के पदभार ग्रहण करने के समय का है। लंबा संवाद प्रस्तुत करने का अर्थ यह है कि हमारी सोच कितनी संकीर्ण हैं कि हम बुद्धि को भी जाति से अलग करके नहीं देख पाते हैं। जैसा कि सेठी नाम के अधिकारी जताना चाह रहे थे। सेठी अकेले व्यक्ति नहीं थे, ऐसे कितने ही रहे होंगे। यहां सवाल व्यक्ति का न होकर पूरी समाज व्यवस्था व उसकी दृष्टि का है। इसलिए वाल्मीकि को प्रायः उनकी जाति का जिक्र करके उनकी योग्यता व प्रतिभा को ढकने की कोशिश की जाती थी।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने प्रामाणिक टिप्पणी की है- ''भारतीय समाज में जाति एक महत्वपूर्ण घटक है। 'जाति', पैदा होते ही व्यक्ति की नियति तय कर देती है। पैदा होना व्यक्ति के अधिकार में नहीं होता है। यदि होता है, तो मैं भंगी के घर पैदा क्यों होता? जो स्वयं को इस देश की, महान सांस्कृतिक धरोहर के तथाकथित अलमबरदार कहते हैं, क्या वे अपनी मर्जी से उन घरों में पैदा हुए हैं? हां इसे जस्टीफाई करने के लिए अनेक धर्मशास्त्रों का सहारा जरूर लेते हैं। वे धर्मशास्त्र जो समता, स्वतंत्रता की हिमायत नहीं करते, बल्कि सामंती प्रवृत्तियों को स्थापित करते हैं।''

ओमप्रकाश वाल्मीकि के मानवीय सरोकार बहुत स्पष्ट हैं, जो उनकी कविताओं/कहानियों व आत्मकथा में साफ परिलक्षित होते हैं। ऐसे समय में जब सबको अपनी-अपनी पड़ी है। घनघोर स्वार्थाचार सब तरफ दिख रहा हो, असंवेदनशीलता पसरी हो, एक व्यक्ति अपनी नौकरी व अपनी सुविधाओं को खतरे में डालकर, उन मासूम जिंदगियों के बारे में लोगों से उनकी सहानुभूति व संवेदना जुटा रहा हो जो एक रात सोए थे, अपनी घास-फूस की मड़इयों में, लेकिन आधी रात हुई तेज आँधी-पानी में, ऊपर से आए मलबे में जमींदोज हो गए। अधिकारियों व प्रशासनिक अमले के होते हुए भी उनको सुरक्षित निकालने में कितनी अमानवीयता बरती गई। इसका मार्मिक चित्र जूठन भाग-दो में अंकित हैः ''25 दिसंबर, 1985 की रात में देहरादून और मसूरी में तेज तूफान के साथ मूसलाधार बारिश हुई थी। देहरादून में भारी मात्र में ओला वृष्टि और मसूरी में हिमपात हुआ था, जिसने जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया था। यह रात झोपड़ियों में सोए मजदूरों के लिए मौत बनकर आई थी, जो अकल्पनीय था। न ठेकेदार ने सोचा होगा, न भवन-निर्माण से जुड़े इंजीनियर्स ने। वैसे भी यह दुखदायी है कि बड़ी-बड़ी डिग्रियां लेकर नौकरी में आए, इंजीनियर भी क्यों मजदूरों की सुरक्षा के प्रति इतने लापरवाह हो जाते हैं? और सारा दोष प्राकृतिक आपदाओं के साथ जोड़कर स्वयं बच जाते हैं।'' (पृ. 37)

एक भयानक त्रासदी उस रात घटित हुई। उसमें मारे गए थे, आदमी, किंतु गरीब। इसीलिए बहुत समय व्यतीत हो जाने पर भी, मजदूरों को सुरक्षित निकालने का अभियान बहुत देर से शुरू हो पाया। कुछ लोग जो अभी

तक सांसें ले रहे होंगे, वे भी समय से मदद न मिल पाने की वजह से अपनी जान खो चुके थे। यह है व्यवस्था का क्रूर, अमानवीय व असंवेदनशील पक्ष। वाल्मीकि जी अकेले ही पुलिस थाना, फैक्ट्री के अधिकारियों आदि से मिलते रहे। उन्होंने अकेले दम पर भरसक कोशिश की कि समय पर रेस्क्यू ऑपरेशन चलाकर बचे हुए लोगों को बचा लिया जाए, जिसमें वे कामयाब न हुए और यह घटना उनके मन-मशस्तिक पर अमिट रही, जिसे उनकी नीचे प्रस्तुत कविता की पंक्तियों से भी समझा जा सकता है-

शब्द हो जाएं जब गूंगे
और भाषा भी हो जाए अपाहिज
समझ लो
कहीं किसी मजदूर का
लहू बहा है
धूप से नहाकर
जब चांदनी करने लगे अठखेलियां
धुएँ के बादलों से
तो समझ लो
अँधेरे ने उजालों को ठगा है।
दर्द के रिश्ते
जब नम होने लगें
और गीत रचने लगेंगी
सन्नाटों की हवाएं
समझ लो
आदमी का लहू
कहीं सस्ते में बिका है।
धरती की गोद में
ओढ़कर चादर आकाश की
सो गए मजदूर सभी
थक-हारकर
बजता रहा
बेरहम मौसम का नगाड़ा
रात भर
बर्फीली हवाओं की लय-ताल पर
मौन खड़ा पर्वत
देख रहा था चुपचाप
मौत का तांडव
जो मिट्टी का सैलाब बन
टूट पड़ा गहरी नींद में सोए मजदूरों पर
घुट-घुट कर
जिस्म ठंढे पड़ गए
सर्द रात के सन्नाटों में।

(पृ. 43-44)

कविता लंबी है, इसलिए समूची कविता उद्धृत नहीं किया जा रहा है, किंतु एक बात जरूर सामने आ रही है, उस क्रूर व असंवेदनशील मानव-समाज की, जो सुख की नींद सोता रहा और दूसरी तरफ मिट्टी के मलबे में बच्चे, बूढ़े, जवान, स्त्री और पुरुष सभी दम घुटने से मरते रहे और मरने के बाद भी बहुत समय तक मिट्टी के ढेर में ही दबे रहने के लिए अभिशप्त थे। सचमुच कितना अमानवीय है, यह सब।

वाल्मीकि जी ने 'जूठन' के दूसरे खंड में ऐसे असंख्य उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनसे उनकी गहरी दलित, वंचित व्यक्तियों के प्रति प्रतिबद्धता की जानकारी मिलती है। एक प्रकरण उनकी जबलपुर तैनाती के दौरान का है। उन्हें जानबूझकर बाजार से किराया वसूल करने का खतरनाक वर्षों से लंबित काम दिया गया, किंतु उन्होंने अपनी सूझ-बूझ और गहरी मानवीय दृष्टि के बल पर बिना किसी दुकानदार को डराए या धमकाए किराया भी वसूल किया और स्नेह भी। यह जबलपुर फैक्ट्री के इतिहास में लगभग असाधारण घटना थी।

जीवन भर प्रगतिशील मूल्यों, मानववादी मूल्यों के लिए संघर्ष करने वाले दुर्धर्ष दलित लेखक नौकरी से अवकाश के बाद अधिक समय तक हम सबके साथ नहीं रह पाया। पेट के कैंसर से 2015 में उनकी मृत्यु हुई, लेकिन उनकी आत्मकथा में उनके ही द्वारा किए गए जिक्र से यह हर्ष होता है कि वाल्मीकि जिन मूल्यों की रक्षा व स्थापना के लिए आजीवन लड़ते रहे, वह काफी हद तक हल हुआ है और जो उन्होंने एक लेखक के रूप में कमाया है वह अस्पताल में एडमिट होने के समय प्रकट हुआ। ख्यातनाम, साहित्यकार, प्रकाशक, संपादक, अध्यापक, विद्यार्थी और पत्रकार सभी उनकी कुशल-क्षेम पूछने पहुंचे थे। इस बात को वाल्मीकि ने विशेष रूप से स्मरण करते हुए, इसे उपलब्धि सरीखा माना है- "मैंने चंदा से कहा था, 'देखो, तुम परेशान रहती थी कि हमारा कोई अपना बच्चा नहीं है, ये बच्चे जो इस वक्त जात-पात भूलकर जिस तरह मेरी सेवा कर रहे हैं, क्या हमारे अपने बच्चे इनसे ज्यादा कर सकते थे? शायद नहीं.. ये कौन हैं, हमारे? क्या रिश्ता है इनसे? फिर भी रात-रात भर जागकर मेरी देखभाल कर रहे हैं। बिना किसी स्वार्थ के। क्या ये मेरे अपने नहीं, हैं? इन बच्चों ने यह साबित कर दिया है कि, समाज बदल रहा है, जिसे पहचानना जरूरी है।" (जूठन, भाग-2, पृ. 15)

संक्षेप में 'जूठन' भाग-दो एक दुर्धर्ष जीवन की अशेष कथा है, जिसमें जीवट अछोर है, तो सघन प्रतिबद्धता भी मानव-मूल्यों व प्रगतिशील लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति। ■

एक नई दुनिया का दरवाजा

विजया सती
साहित्यकार

संपर्क : डी-3, हिंदू कॉलेज
स्टाफ फ्लैट्स
दिल्ली विश्वविद्यालय परिसर,
दिल्ली-110007

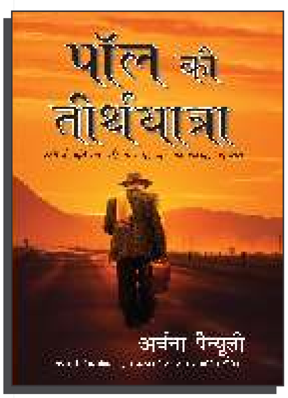

पुस्तक : पॉल की तीर्थयात्रा
लेखक : अर्चना पैन्यूली
प्रकाशक : राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2016
मूल्य : रु. 265

भारतीय रचनाकारों द्वारा प्रवास में किया गया लेखन भारतीय जनमानस के लिए जैसे एक नई दुनिया का प्रवेश द्वार होता है।

अर्चना पैन्यूली ने भारत में रहते हुए 'परिवर्तन' शीर्षक उपन्यास अपने परिचित परिवेश को केंद्र में रख कर रचा था। उसके बाद उनका अधिकांश लेखन प्रवास में हुआ। दो चर्चित उपन्यास और एक दर्जन से अधिक कहानियां न केवल लेखिका के जीवन के नए परिवेश से हमारा परिचय कराती हैं बल्कि मनुष्य मात्र से जुड़े तमाम प्रश्नों, जिज्ञासाओं, जटिलताओं, विविधताओं, जीवन शैलियों का भी साक्षात्कार कराती हैं। अर्चना के लेखन में जीवन के नैकट्य का बोध गहरे से गहरा हुआ है। पहले उपन्यास 'परिवर्तन' में पर्वतीय अंचल के जीवन का पथरीला सत्य गुथा था। दूसरा उपन्यास 'वेयर डू आई बिलोंग' प्रवासी जीवन और मन के उद्वेलन का विस्तार लेकर आया। अब पॉल का तीर्थयात्रा पर निकलना जिंदगी के बहुरूपी यथार्थ को स्मृति बिंबों में पिरोते चलने का अद्भुत उदाहरण है।

भारतीय मूल की नीना और उसके डैनिश पति के जीवन की यादें और साथ सहे सुख-दुख - 'पॉल की तीर्थयात्रा' उपन्यास का ताना-बाना बुनते हैं। उपन्यास में हम तीन पीढ़ियों से मिलते हैं- माता-पिता, पति-पत्नी और बच्चे। उनका जीवन, उनकी सोच, उनकी जीवन-शैली और उनकी प्रतिक्रियाएं ही उपन्यास का कथ्य हैं।

नीना सिंगल पेरेंट है, दो बेटियों के साथ डेनमार्क में रहती है। पॉल उसके जीवन की नई उपस्थिति है- नीना के प्रेम में पड़कर, उसके माता-पिता से मिलकर, नीना से विवाह की खातिर वह स्कॉटलैंड से डेनमार्क आ बसता है, एक टूटे हुए घर की जिम्मेदारी लेने को। जेब से हमेशा फकीर पॉल की यह कथा मानवीय संबंधों के उलझावों-समाधानों की दुर्लभ गाथा है। पॉल के पास स्मृतियों का खजाना है - माता-पिता-भाई-बहन-बेटियों लूसी-ग्रेसी और भूतपूर्व तथा वर्तमान पत्नियों से जुड़ा, जिन्हें उपन्यास के छोटे-छोटे पच्चीस अध्यायों में निबद्ध किया गया है।

पहले विवाह की असफलता के बाद, दूसरे विवाह में पॉल नीना के साथ कुछ वर्ष साथ में और कुछ अलगाव में बिताता है कि अचानक उनका तेरह वर्ष का दांपत्य नीना के असाध्य रोग की भेंट चढ़ जाता है। नीना की पहली बरसी पर पॉल एक ऐसा निर्णय लेता है जो उसके साहसिक-समर्पित निर्मल मन को साकार करता है - अपने घर से बरसी के आयोजन स्थल तक 108 किलोमीटर की पदयात्रा। एक सौ आठ एक पवित्र संख्या। नीना की प्रथम पुण्यतिथि पर - नीना को श्रद्धांजलि स्वरूप पॉल की तीर्थयात्रा ! यह पुराने ढंग की नहीं, एक आधुनिक यात्रा है जिसमें निरंतर आत्मप्रक्षालन होता चलता है। पॉल जैसे एक मिशन पर है और यात्रा-क्रम में साध्य-साधन की पवित्रता का इतना विश्वासी हो चला है कि कहीं मुक्त भाव से क्रोनर दान देना चाहता है, कहीं सर्दी के बावजूद गर्म कपड़ा गरीब को ओढ़ा देता है, बैग खो जाने का एक विचित्र संतुष्टि के भाव से भर कर सोचता है कि शायद किसी और को उसकी जरूरत होगी, सड़क पर बिखरे कांच के टुकड़े बीनकर कूड़ेदान में फेंक देता है, अंधे व्यक्ति का हाथ थाम उसे सड़क पार कराता है, परेशान महिला की कार का टायर बदल देता है! मन में यह भाव लिए हुए कि वह कुछ खास, कुछ अनूठा कर रहा है। श्रद्धालु प्रेमी पॉल को यह बोध निरंतर है कि वह पदयात्रा का पुण्य कमा लेगा और अपने कृत्य से प्रेम की मिसाल छोड़ जाएगा!

पॉल इस यात्रा में बार-बार अपने अतीत में लौटता है, तीखी दृष्टि से बीते हुए का पुनरावलोकन करता है। जीवन के अच्छे-बुरे सभी पहलुओं को केवल याद भर नहीं करता है, उनका विश्लेषण करता है, अपनी कमियों पर गौर करता है। अपने जीवन के हर्ष-उल्लास-विषाद-अपनापन-अनमनापन-अकेलापन-व्यर्थता-सार्थकता सभी का आकलन करता है। आत्मनिरीक्षण के इस क्रम में उसे प्रिय प्रसंग भी याद आते हैं और दुखद प्रसंग भी। पुनरावलोकन पद्धति से कहानी चलती रहती है और हम वर्तमान से अतीत में लौटते रहते हैं। विविध झलकियां आती रहती हैं- मधुर संबंध, वैवाहिक उलझनें, क्षुब्धता

और दंश, मान-मनुहार-अपमान-तिरस्कार, बचपन और किशोरावस्था, मां-पिता-भाई-बहन के साथ पारिवारिक संबंध-पॉल तज्ञ भाव से अपने जीवन में सभी के अवदान को याद करता है - यह रेखांकित करते हुए कि जीवन में कृतज्ञता का भाव इतना महत्वपूर्ण है कि उसके बिना भी जीवन रसहीन ही होता है। वह कृतज्ञ है कि नीना ने भी उसे एक दूसरे लोक से जोड़ा था।

पैनी दृष्टि रखने वाला पॉल जीवन के प्रति उदार है, समझदार भी। तभी वह स्वयं से प्रश्न कर पाता है- 'एक दूसरे को स्वीकार करने में कितने सक्षम हैं हम? वरना संघर्ष और समस्याएं होंगी'। उसके जीवन में समस्याएं रही, सेल्फ-अनैलिसिस की गहरी क्षमता के बल पर वह क्रमशः जानता रहा कि जग और जीवन की तेज रफ्तार के बीच वह धीमी चाल का पुराने किस्म का आदमी है।

नीना के साथ अपने दांपत्य जीवन में पॉल ने उद्दात्त प्रेम और गहरे विषाद दोनों का अनुभव किया। दस वर्ष का अंतर था नीना और पॉल की उम्र के बीच, गहरे अवसाद के पलों में यह पॉल का ही निर्णय था- लेट्स सेपरेट, जबकि वह शादी के चिर स्थायित्व का अभिलाषी भी रहा। विवाह-पूर्व उसे स्थिर घर मिला था, उसके मां-बाप कभी अलग न हुए थे। नीना से अलगाव के बाद वह जीवन के कठिनतम दौर से गुजरता है, चारों तरफ व्यर्थता, निस्सारता का अनुभव करता है। अब वह जानता है कि पति-पत्नी के लिए एक-दूसरे की भाषा से अधिक एक-दूसरे के भावों-संकेतों के समझना अधिक मायने रखता है, किंतु उसने विवाह की टूटन को झेलते हुए जाना कि तर्क-वितर्क-तनाव के बाद, दो खामोश समानांतर जिंदगियां शुरू होती हैं, तकरार प्यार पर हावी होने लगता है और विवाहित जिंदगी तबाही की ओर बढ़ने लगती है, लेकिन ऐसी समझ के बावजूद उसी पॉल के चरित्र में इतना हल्कापन क्यों है कि वह शादी

पॉल इस यात्रा में बार-बार अपने अतीत में लौटता है, तीखी दृष्टि से बीते हुए का पुनरावलोकन करता है। जीवन के अच्छे-बुरे सभी पहलुओं को केवल याद भर नहीं करता है, उनका विश्लेषण करता है, अपनी कमियों पर गौर करता है। अपने जीवन के हर्ष-उल्लास-विषाद-अपनापन-अनमनापन-अकेलापन व्यर्थता-सार्थकता सभी का आकलन करता है। आत्मनिरीक्षण के इस क्रम में उसे प्रिय प्रसंग भी याद आते हैं और दुखद प्रसंग भी। पुनरावलोकन पद्धति से कहानी चलती रहती है और हम वर्तमान से अतीत में लौटते रहते हैं। विविध झलकियां आती रहती हैं- मधुर संबंध, वैवाहिक उलझनें, क्षुब्धता और दंश, मान-मनुहार-अपमान-तिरस्कार, बचपन और किशोरावस्था, मां-पिता-भाई-बहन के साथ पारिवारिक संबंध-पॉल कृतज्ञ भाव से अपने जीवन में सभी के अवदान को याद करता है।

को इस तरह लेता है जैसे कोई 'पारी' हो, पहले वह सौंद्रा के साथ विवाहित था, फिर नीना मिली और अंततः वह तीसरी पारी खेलने को तैयार है! उपन्यास यह प्रश्न पाठक के मन में छोड़ जाता है। एक स्थान पर पॉल कहता है- 'दोनों भाई पीने के शौकीन - मेरी तरह संत नहीं'। क्या वह वास्तव में संत है? किस कोटि का संत है वह जो स्कॉट या वाल्टर जैसे सरनेम प्रसंग पर अपनी बेटियों लूसी-ग्रेसी पर भड़क उठता है?

दरअसल पॉल के व्यक्तित्व के कई पहलू हैं। वह जिस व्यक्ति के साथ है, उसे जान लेने की प्यास है उसके भीतर। नीना और उसके परिवार के साथ होने पर उसने सहज ही यह जान लिया कि भारतीय जिज्ञासु होते हैं। वह आद्यांत आशावादी है- 'एक बार फिर मैंने अपनी जिंदगी संवार ली' उसी के मुख से निकले शब्द हैं। अपने नैराश्य और अकेलेपन के अंधकारमय वातावरण में वह आस्था की डोर थामे अपनी जिंदगी संवारने में लगा रहता है। जीवन की समस्याओं के प्रति आत्मविश्लेषण की प्रवृत्ति से वह अपने भीतर-बाहर भरपूर झांक पाता है। इस जीवन यात्रा में कुछ निष्कर्ष भी पाए हैं उसने, जैसे 'कई मसलों व मुद्दों पर हमें खामोशी ओढ़ लेनी पड़ती है... नहीं तो जीवन... युद्ध का अखाड़ा हो जाएगा; विवाह में सभी प्रकार की संभावनाएं हैं- आजीवन निभाने से बीच में तोड़ देने तक की; इंसान की खुशियां बड़ी-बड़ी बातों में नहीं छोटी-छोटी बातों में निहित होती हैं; अभंग परिवार बाजी जीत लेने जैसा होता है; पुरानी पीढ़ी सहयोगी और नई पीढ़ी प्रतियोगिता में विश्वास रखती; जब तुम एक लंबे अरसे तक अकेले रहते हो तो समझ नहीं पाते कि किसी को तुम प्रेमवश चुन रहे हो या अपने अकेलेपन से त्रस्त होने की वजह से; जिंदगी की खुशियां व दर्द हमें सिखाते हैं कि... मनुष्य की भावनाएं कितनी अस्थाई हैं; अच्छे निर्णय लेना अनुभव से आता है और अनुभव बुरे निर्णय लेने से आता है। आदि।

उपन्यास में प्रेम, विवाह और दांपत्य की वास्तविकता परत-दर-परत खुली है। पति-पत्नी के रिश्तों के इंद्रधनुषी रंगों के साथ-साथ यहां दुख-दर्द-संदेह की कालिमा भी है। अर्चना के उपन्यास उनकी भारतीय संपृक्ति और यूरोपीय पृष्ठभूमि का गहन तटस्थ चित्रण देते हैं। विदेश जा बसे भारतीय अपनी जड़ों से जुड़े होने के बावजूद तमाम

परिस्थितियों में संतप्त होते हैं, जैसे नीना के माता-पिता बेटी के जीवन को यूं बिखरता देख ... उनकी इकलौती संतान नीना, उपन्यास की दूसरी महत्त्वपूर्ण पात्र- जिसे फर्स्ट क्लास रोग लगा और पति थर्ड क्लास मिले!

यह जीवन आखिर है क्या- यह सवाल भी उपन्यास के अंतरंग का हिस्सा है। सृष्टि का नियंता कई रूपों में उपन्यास में दिखाई देता है, बहुत से छोटे कथन बड़े संकेत लिए हैं। यह अर्चना की विशेषता है कि वह परंपरागत को भूलती नहीं, नया अनदेखा नहीं करती।

जिंदगी के उतार-चढ़ावों में तैरता-डूबता पॉल अंततः अपने जीवन की सार्थकता को एक बिंदु पर स्थिर कर देना चाहता है। मन के भरपूर विचलन के बावजूद वह जिस यात्रा पर निकलता है, यात्रा-क्रम में जिन अनुभवों से गुजरता है, जिन स्मृतियों को जीता है, जितने लोगों से टकराता है और अपने जीवन का जिस तरह पुनरावलोकन करता है, जिज्ञासु पाठक उपन्यास के पन्ने पलटते हुए उन सभी का साक्षी बनता है। धीरे-धीरे वह जैसे पॉल का सहयात्री हो जाता है। लेखिका सहज भाव से देशी और विदेशी मन और जीवन की बारीकियों को घटना-क्रम में उजागर करती चलती हैं।

यह भी महत्वपूर्ण है कि अपनी इस यात्रा में पॉल ने सहज प्राकृतिक को चुना है, परिष्कृत सांस्कृतिक को नहीं। जीवन के एकांत में प्रकृति ही पॉल की साथी रही- रात की नीरवता, मुक्त आकाश, ओस भरी धरती, फूलों पर बहार, खेत-जंगल-तालाब-झील, फैली-बिखरी घास, समुद्र, सन्नाटा, जंगली रास्ता, कच्ची पगडंडियां - पॉल इनके बीच से न केवल गुजरता ही है बल्कि इनके माध्यम से जीवन को समझता भी है। मेघाच्छित नभ, सूरज का प्रकाश, बादल का अवरोध, कोहरा, हरियाली, फूलों से सजी-संवरी बगिया, खिड़कियों से झांकती गुलाब की झाड़ियां, सेव नाशपाती के पेड़, पहरेदार से चीड़ के वृक्ष, महीन मलमल-सी हरी घास, खिलखिलाती शिशिर पूर्णिमा की रात, छोटे-छोटे झरनों का धीमा-धीमा प्रवाह, चर्च का हरा-भरा उपवन, सूर्य की गुनगुनी धूप, संध्या की सुहावनी बेला, अपनी असंख्य तूलिकाओं से आकाश को रंगता सूर्य - सभी जो मिलते हैं उसे इस रोमांचक यात्रा में एक संकेत, एक दिशा, एक दृष्टि दे जाते हैं।

उपन्यास में प्रेम, विवाह और दांपत्य की वास्तविकता परत-दर-परत खुली है। पति-पत्नी के रिश्तों के इंद्रधनुषी रंगों के साथ-साथ यहां दुख-दर्द-संदेह की कालिमा भी है। अर्चना के उपन्यास उनकी भारतीय संपृक्ति और यूरोपीय पृष्ठभूमि का गहन तटस्थ चित्रण देते हैं। विदेश जा बसे भारतीय अपनी जड़ों से जुड़े होने के बावजूद तमाम परिस्थितियों में संतप्त होते हैं, जैसे नीना के माता-पिता बेटी के जीवन को यूं बिखरता देख ... उनकी इकलौती संतान नीना, उपन्यास की दूसरी महत्वपूर्ण पात्र- जिसे फर्स्ट क्लास रोग लगा और पति थर्ड क्लास मिले!

वैश्वीकरण के दौर में उपन्यास यह सार्थक कथन भी करता है- 'यूरोपियन होना, इंडियन होना, ब्लैक होना, व्हाईट होना,...यह सब पुराने युग की बातें हैं। हमारी आज की पहचान- हम पृथ्वी ग्रह के बाशिंदे हैं।'

उपन्यास की संरचना में वाक्यविन्यास और शब्दचयन संबंधी कुछ अशुद्धियां रही हैं, छपाई की भी इक्का-दुक्का कमियां हैं जो अगले संस्करण में सुधर-संवर सकती हैं। हिंदी जगत में अर्चना की लेखनी से यह नई किताब कई मायनों में अपनी पहचान बना सकेगी। इसके माध्यम से लेखिका साबित करती हैं कि यह 'आँखिन देखी' उस बहुरंगी जीवन की छवि है जो हम सबके आसपास बिखरी तो रहती है, पर उसे यूं सहेज पाना सिद्धहस्त लेखनी द्वारा ही संभव होता है। ■

साहित्यिक पुरखों का स्मरण

■ अशोक नाथ त्रिपाठी

संपर्क : हिंदी एवं तुलनात्मक
साहित्य विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

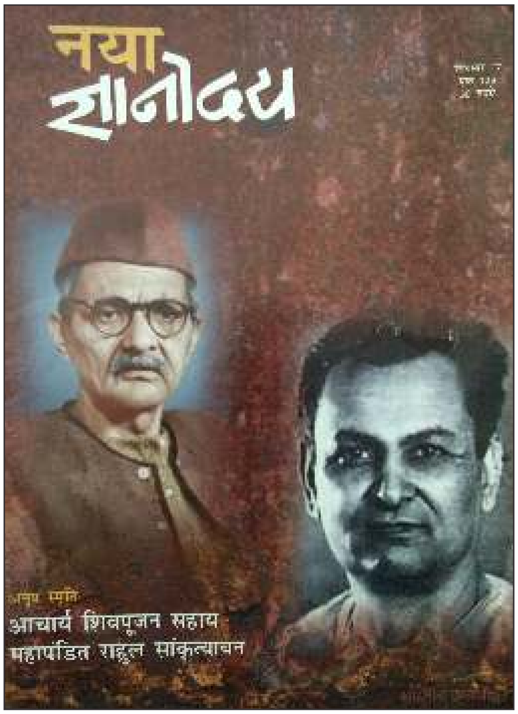

यह वर्ष आचार्य शिवपूजन सहाय और राहुल सांकृत्यायन के जन्म का 125वां साल भी है इस कारण भी उन महापुरुषों के अवदान को स्मरण किया जाना चाहिए, इसे उस क्रम में भी देखा जा सकता है।

नया ज्ञानोदय

हिंदी की तमाम पत्रिकाओं में 'नया ज्ञानोदय' मुख्यधारा में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाए हुए है। इसके कई कारणों में से एक कारण यह भी है कि उसके संपादन का दायित्व लीलाधर मंडलोई के हाथों में है। नया ज्ञानोदय के कई अंक विशेषांक के रूप काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं उसी के अगली कड़ी के रूप में इस अंक को देखा जा सकता है। इस अंक को आचार्य शिवपूजन सहाय एवं महापंडित राहुल सांकृत्यायन नामक दो महान पुरखों पर एकाग्र किया गया है। दरअसल यह वर्ष आचार्य शिवपूजन सहाय और राहुल सांकृत्यायन के जन्म का 125वां साल भी है इस कारण भी उन महापुरुषों के अवदान को स्मरण किया जाना चाहिए, इसे उस क्रम में भी देखा जा सकता है। लीलाधर मंडलोई अपने संपादकीय में इस प्रयास को एक आरंभ के रूप में देखते हैं और यह उम्मीद भी करते हैं कि साहित्य प्रेमी समुदाय इसे विधिवत् आकार प्रदान करेगा। वह मानते हैं कि यह एक संयोग ही है कि यह आयोजन हिंदी उत्सव के महीने में किया जा रहा है। इसका मूल उद्देश्य यह भी है कि इन महान विभूतियों ने हिंदी को अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया लेकिन युवा वर्ग उसे याद करता है कि नहीं इसमें संदेह है। इस अंक का महत्वपूर्ण स्तंभ 'पुरखों का कोठार' शायद इस कमी को पूरा कर सके। शिवपूजन सहाय के संदर्भ को जोड़ते हुए वे लिखते हैं कि 'जहां आर्थिक चिंता से प्रतिभा क्षीण हो रहीं हो, जहां बाजार की मांग पूरी करने के लिए लेखनी से दिमाग की खाज मिटानी पड़ती है वहां कोई ठोस साहित्यिक काम नहीं हो सकता।' मंगलमूर्ति ने हिंदी नवजागरण की दो विभूतियों पर विचार करते हुए अपने आलेख का शीर्षक 'शिवपूजन सहाय और राहुल सांकृत्यायन का पारस्परिक जीवन' दिया है। उनके जीवन के संदर्भ में तमाम बातों के साथ वे इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं कि उनके पिता एक तपस्वी साधक के समान साहित्य की सेवा करते थे। मंगलमूर्ति अपने आलेख के माध्यम से इस तथ्य को रेखांकित करना चाहते हैं कि शिवपूजन सहाय और राहुल सांकृत्यायन के सिर्फ उम्र में ही संवर्तिता नहीं अपितु कई अन्य समानताएं भी दिखाई पड़ती है। इसी आलेख में 'देहाती दुनिया' के भाषिक पक्ष पर भी विचार किया गया है इसी संदर्भ में परमानंद श्रीवास्तव के हवाले से वह यह बताना चाहते हैं कि 'वह सच्चे अर्थों में जनता के लेखक हैं, जनता की जीवनी शक्ति को चरितार्थ करने वाले लेखक हैं।' ऐसे समय में जब लेखन वायवीय होता जा रहा है उस समय जनता के लिए लिखने वाला लेखक कौन है यह एक बड़ा प्रश्न है। 'पुरखों की कोठार से' स्तंभ के बहाने नलिनविलोचन शर्मा, रामविलास शर्मा तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी की संक्षिप्त टिप्पणियां दी गई हैं। नलिनविलोचन शर्मा 'आचार्य शिवपूजन सहाय' शीर्षक आलेख में यह बताना चाहते हैं कि शिवपूजन सहाय समय के बड़े पाबंद थे, उन्होंने संक्षेप में आचार्यजी के प्रशासनिक दायित्व पर भी महत्वपूर्ण टिप्पणी की है। रामविलास शर्मा 'हिंदी-भूषण बाबू शिवपूजन सहाय' शीर्षक से अपनी

बात रखते हुए यह मानते हैं कि शिवपूजन सहाय को समझना इतना आसान काम नहीं है। साथ ही विनम्रता का भाव भी उनमें कूट-कूट कर भरा था। वे अपनी खुशी चाहकर भी नहीं छुपा पाते हैं दरअसल विनम्रता को वे ढाल बनाकर रखते थे जिससे साहित्यिक आँधियों से बचा जा सके। रामविलासजी शिवपूजन सहाय के स्वभाव के बारे में लिखते हैं कि वह किसी के बारे में जल्दी लिखना नहीं चाहते थे क्योंकि वह कहते थे जो लिखेंगे वह लोगों को सहन नहीं होगा, उनकी आत्मा दुखी होगी। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने आलेख का शीर्षक दिया है-'शिवजी : विनय और शील के मूर्तिमान रूप'। द्विवेदीजी यह मानते थे कि कालिदास ने जिसको 'कांचन पद्म धर्मिता' कहा है वह शिवपूजनजी में सर्वत्र दिखाई पड़ता है लेकिन वह यह दुख भी व्यक्त करते नजर आते हैं कि जो मूल्य शिवपूजन सहाय ने बनाए थे वे अब बिखर गए हैं। 'शिवपूजन सहाय की गद्य-कला' शीर्षक से नंदकिशोर नवल का महत्वपूर्ण लेख है। इस आलेख में नवलजी यह बताना चाहते हैं कि, सहायजी गद्य को कला के रूप में मानते हैं और साहित्य की किसी भी विधा में उसी हिसाब से प्रयोग करते थे। उनका मानना था कि शिवपूजन सहाय का गद्य सपाट गद्य नहीं था बल्कि उसमें बांकपन और रसीलापन भी दिखाई देता है। 'देहाती दुनिया' के माध्यम से नवलजी यह बताना चाहते हैं कि यह उपन्यास उस तरह से आंचलिक नहीं है जिस तरह से मैला आंचल, जिंदगीनामा अथवा मुर्दा घर उपन्यास है। हिंदी नवजागरण के गंभीर अध्येता कर्मेंदु शिशिर 'आचार्य शिवपूजन सहाय का रचनात्मक साहित्य लेखन' शीर्षक आलेख के माध्यम से यह बताना चाहते हैं कि इनके जीवन का उतार-चढ़ाव उनके लेखन के माध्यम से दिखाई पड़ता है। कर्मेंदु शिशिर उनके 'विभूति' कहानी संग्रह के उदाहरण से यह बताने का प्रयास करते हैं कि इसकी पंद्रह कहानियां अपने समय की सीमाओं को लांघने में सफल नहीं हुई है। दरअसल उनका यह मानना है कि साहित्यकार हमेशा अपने समय से आगे की बात करता है लेकिन उनकी अनेक कहानियां एक ही मन मिजाज की कहानियां हैं हालांकि वे इस बात को भी रेखांकित करते नजर आते हैं कि यदि शिवपूजन सहाय के निबंधों को संकलित कर एक अच्छा संग्रह तैयार किया जा सकता है। उनका यह मानना है शिवपूजन का लेखन विपुल है लेकिन उसमें चयन की आवश्यकता है। पत्रिका के इस अंक की यह भी विशेषता है कि इसमें शिवपूजन सहाय द्वारा लिखित भारतेंदु हरिश्चंद्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पूज्य निरालाजी जैसे महत्वपूर्ण आलेख को संग्रहीत किया गया है। जैसा कि पूर्व में ही उल्लिखित किया गया है कि इस अंक में राहुल सांकृत्यायन के बारे में भी सामग्री दी गई है। इस क्रम में राहुल सांकृत्यायन ने 'मैं कहानी लेखक कैसे बना?' में अपने लेखक बनने की प्रक्रिया का चित्रण करते हैं। भगवतशरण उपाध्याय 'भारतीय अनुसंधाता राहुल' शीर्षक आलेख में यह उल्लेख करना चाहते हैं कि राहुलजी की तमाम उपलब्धियों के मूल में उनका इतिहास प्रेम रहा है। 'बोल्गा से गंगा', 'सिंह सेनापति', 'दिवोदास' आदि साहित्यिक कृतियां उनके उनके ऐतिहासिक रुझान को भी स्पष्ट करता है। कहने का आशय यह है कि राहुल की लेखनी में एक अनुसंधित्सु की छवि दिखाई पड़ती है। कमला सांकृत्यायन ने भी राहुल पर अपनी लेखनी चलाई है और अपने आलेख का शीर्षक दिया है 'महापंडित राहुल सांकृत्यायन और भारत के नेत्रहीन'। इस आलेख में उन्होंने उन तीन विभूतियों का उल्लेख किया है जिनमें पंडित सुखलालजी, महामहोपाध्याय स्वामी गंगेश्वरा नंदजी और तीसरा नाम है बंसीधर शुक्ल है। इन तीनों के सानिध्य से एक बात तो स्पष्ट हो होता है कि राहुलजी दिव्यांगों के प्रति सदिच्छा व्यक्त करते रहे, उनका यह मानना कि जो लोग कमजोर हों देश में उनके साहित्य का भी विस्तार हो। भीष्म साहनी का आलेख 'राहुलजी : कुछ यादें', नागार्जुन का 'टेहरी से नेलंग' के माध्यम से राहुलजी एवं शिवपूजन सहाय पर काफी महत्वपूर्ण सामग्री परोसी गई हैं।

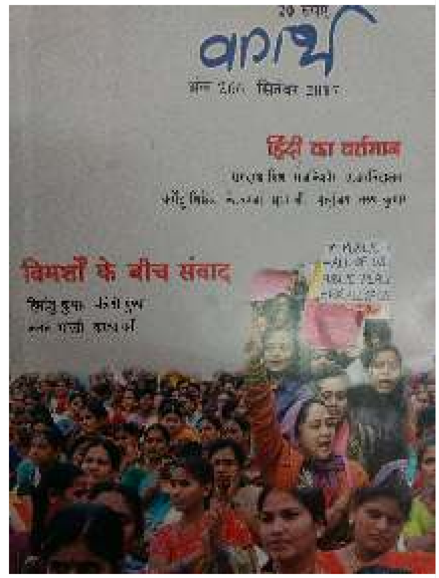

वागर्थ

वागर्थ का संपादन हिंदी के वरिष्ठ आलोचक शंभुनाथ द्वारा किया गया है। इस अंक का संयोजन कई मायने में महत्वपूर्ण है मसलन् इसे दो भागों में देखा जा सकता है-एक तरफ हिंदी के वर्तमान को लेकर हिंदी के प्रमुख हस्ताक्षर रामदरश मिश्र, राजकिशोर ,ए अरविंदाक्षन, कर्मेंदु शिशिर के साथ के. वनजा, सुधा बी, मृत्युंजय एवं वरुण कुमार की उपस्थिति है और दूसरा भाग विमर्शों के बीच संवाद रखा गया है। इस खंड में हिमांशु कुमार, मैत्रेयी पुष्पा, कंवल भारती तथा कात्यायनी के विचार हैं। स्वयं शंभुनाथ ने अपने संपादकीय 'विमर्शों के बाद' में कई सवाल उठाते हैं। उनका यह मानना है कि 'साहित्य ही नहीं आज सभी क्षेत्रों में कल्पना शील होने की जरूरत है।' वे यह भी मानते हैं कि कल्पना करना कछुआ चाल से मुक्ति भी है। यदि हम किसी महापुरुष के प्रति सिर्फ

आदर व्यक्त करते रहेंगे तो उनके अवदान को भूल जाएंगे, उन्होंने गंगा पर बड़ी सार्थक और मार्मिक टिप्पणी की है। वह इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि गंगा सौंदर्यध्यात्म से जुड़ी हुई है और प्रायः सभी बड़े रचनाकारों ने इन्हें अपनी रचना में शामिल किया है लेकिन हम गंगा को पाप धोने की मशीन बना दिए हैं, यह कृत्य कहीं न कहीं सभ्यता के लिए ठीक नहीं है। इसी संपादकीय में वे यह भी मानते हैं कि हाशिए का सामुदायिक विमर्श के उपजाने में राष्ट्रवाद, आधुनिकता और वामपंथ की महती भूमिका है। प्रायः यह कहा जाता है कि डायलॉग से बातें डायल्यूट होती हैं, मेरे समझ से विमर्शों ने जो संवादहीनता की स्थिति बना दी है, 'विमर्शों के बीच संवाद' उस मौन को तोड़ने का एक सार्थक प्रयास है। प्रस्तुति में ही आशीष मिश्र कहते हैं कि 'आंतरिक उथल-पुथल को समझने और इस समझ से संकल्पबद्ध होकर निकलने का सुगम तरीका यह है कि हम संवाद करें', देखें तो संवाद की खासियत यह है कि हम असहमत होकर भी एक-दूसरे के पास रहते हैं। इस संवाद में यह प्रयास है कि यह अतीत की पड़ताल करे और भविष्य के दिशा निर्धारण का कार्य करें। इस संवाद में नौ सवाल पूछे गए हैं जिसका सभी ने संतुलित उत्तर देने का प्रयास किया है। पहले सवाल कि विमर्शों के बीच टकराहट किससे है?, के उत्तर में प्रसिद्ध गांधीवादी चिंतक हिमांशु कुमार बताना चाहते हैं कि प्रमुख टकराहट बाजारी चेतना से लैस युवा से हुई। मैत्रेयी पुष्पा इसे एक अलग ढंग से देखना चाहती हैं, वे उन्हीं मुद्दों को देख रहीं हैं जिनके कारण इस प्रकार के संवाद की जरूरत आ पड़ी। वे मानती हैं कि शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने बड़ी क्रांति की है। कंवल भारती यह मानते हैं कि विमर्शों में सत्ता प्रतिष्ठान और प्रतिक्रियावादी ताकतों से ही मुख्य रूप से टकराहट रही है। दरअसल इस प्रकार के तमाम सवाल और जवाब इस रोचक संवाद में देखे जा सकते हैं। हिंदी के वर्तमान पर विचार करते हुए अपने समय के वरिष्ठ साहित्यकार रामदरश मिश्र मानते हैं कि बाजार का हिंदी से संबंध उपयोगितावादी का है। वे हिंदी को लेकर बहुत आशान्वित हैं और कहते भी हैं कि हिंदी प्रदेश में हिंदी की स्थिति अच्छी है लेकिन वे यह भी कहते हैं कि अभिजन लोग अंग्रेजी के नशे में हैं। राजकिशोर (स्व.) इसको ठीक विपरीत नजर से देखते हैं, उनका यह मानना है कि 'हिंदी प्रदेश में हिंदी मजबूरी का दूसरा नाम है।' कुछ हद तक इनकी बात सही भी मानी जा सकती है। ए. अरविंदाक्षन का मानना है कि तकनीकी और ज्ञान-विज्ञान की दुनिया में हिंदी की स्थिति अच्छी नहीं है। इसके मुख्य कारण के रूप में वे संसाधन की कमी को मानते हैं। भारतीय नवजागरण के अध्येता कर्मेंदु शिशिर इस मसले को अपने नजरिए से देखते हैं। वे इस बात को रेखांकित करना कहते हैं कि हिंदी की हालत बेहद दयनीय है, पुस्तकालय और पठन संस्कृति का अभाव है। जहां यह धारणा बलवती होती जा रही है कि टी.वी. चैनल ने हिंदी का विस्तार किया है वहीं कर्मेंदुजी इसे अलग ढंग से देखते हैं। उनका आकलन है कि ये सीरियल पूंजीवादी विकृतियों को परोसने में लगे हैं। इस अंक में हिंदी को लेकर अन्य कई लेखकों ने महत्वपूर्ण चिंता व्यक्त की है। युवा कवि प्रमोद कुमार तिवारी की कविताएं पेंसिल, ताला संवेदना को झंकृत करती हैं। यदुवंश यादव की कविता 'जनपथ पर सायकिल' में आम जनता के दर्द को दर्शाने का प्रयास किया गया है। इस अंक में समीक्षा संवाद स्तंभ काफी रोचक है, इसमें गीता दुबे ने चार महिला कथाकारों की एक रचना के माध्यम से उनकी रचनाधर्मिता को देखने का प्रयास किया है, जिसमें चित्रा मुद्‌गल का उपन्यास 'पोस्ट बाक्स नं. 203 नाला सोपारा', कुसुम अंसल का 'परछाइयों का समयसार', सुशीला टाकभोरे का 'तुम्हें बदलना ही होगा' और मनीषा कुलश्रेष्ठ का 'पंचकन्या' को शामिल किया गया है साथ ही उन लेखिकाओं का संक्षिप्त साक्षात्कार भी दिया गया है। गीता दुबे यह मानती हैं कि हिंदी उपन्यास लेखन में महिला कथाकारों ने बहुत सार्थक हस्तक्षेप किया है। 'राष्ट्रीय एकता : स्त्री की भूमिका' शीर्षक आलेख में में शंभु गुप्त ने कई महत्वपूर्ण सवाल खड़े किए हैं। बहुविध सामग्री संयोजन के लिए इस अंक के संपादक को बधाई और साधुवाद।

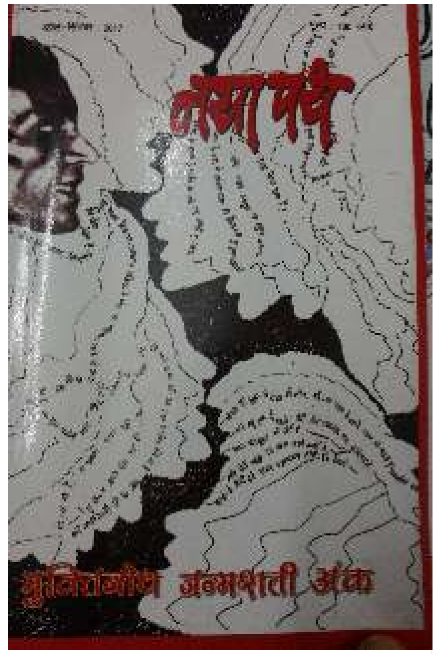

नया पथ

'नया पथ' पत्रिका प्रायः विशेषांकों के साथ हमारे बीच उपस्थित होती है पिछले कई अंकों की भांति इस अंक को हिंदी के प्रसिद्ध कवि मुक्तिबोध की जन्मशती पर केंद्रित किया गया है। मुरली मनोहर प्रसाद सिंह अपने संपादकीय 'अँधेरे समय में मुक्तिबोध की याद' में कई ज्वलंत मसले उठाते हैं। वे यह मानते हैं कि मुक्तिबोध के सृजनात्मक एवं आलोचनात्मक तथा अखबारी लेखन से कई अंतर्विरोध तो प्रकट ही होते हैं बल्कि उनकी भविष्यदर्शी दृष्टि से भारत के विभिन्न रूपों को समझने में सहूलियत भी महसूस होती है।

वे यह मानते हैं कि किसानों की कर्ज माफी का प्रचार तो बहुत हो रहा है लेकिन नवउदारवादी नीतियां किसानों के लिए और अधिक संकट पैदा कर रहीं हैं। हिंदी के वरिष्ठ कवि नरेश सक्सेना 'रुको परसाई, इसे यहां से देखो' शीर्षक आलेख से अपनी बात कहते हैं, यह वाक्यांश मुक्तिबोध का था जो वह सूर्यास्त के समय चाय के ठेले पर पड़ती रोशनी को देखकर परसाई से कहा था, मुक्तिबोध का मानना था कि इस समय सूर्य चाय वाले के श्रम को नमन करते हुए डूब रहा है। नरेश सक्सेना यह मानते हैं कि मुक्तिबोध देखने में बहुत सतर्क थे, वे ब्रह्मराक्षस का उदाहरण देते हैं-तिरछी गिरी रवि रश्मि/के उड़ते हुए परमाणु, जब/तल तक पहुंचते हैं कभी/तब ब्रह्मराक्षस समझता है, सूर्य ने/झुककर नमस्ते कर दिया। अशोक वाजपेयी अपने आलेख 'फिर से मुक्तिबोध' में कई सवाल खड़े करते हैं, उन्हीं में से एक यह भी है कि क्या विचाराधारा से अलग मुक्तिबोध पर कुछ सोचने, उन्हें नई रोशनी में देखने की जरूरत है? और इसी के साथ कुछ प्रस्ताव भी देना चाहते हैं, जिनमें वे मानते हैं कि 'मुक्तिबोध हिंदी कविता के स्थाई प्रतिलोम हैं'। अशोक वाजपेयी यह मानते हैं कि आज के कवि अभिव्यक्ति के उतने खतरे नहीं उठाए जितने मुक्तिबोध ने उठाए थे। वह यह मानते हैं कि अगर शमशेर चित्रमयता के कवि हैं तो मुक्तिबोध विचित्रता के कवि हैं। असद जैदी 'मुक्तिबोध : उत्पीड़न और नायकत्व' शीर्षक से अपनी बात रखते हैं। असद जैदी की बड़ी मजेदार टिप्पणी उन लोगों के लिए है जो प्रायः पुनर्विचार करने की बात कहते हैं। इस पर असद जैदी कहते हैं कि विचारशील लोगों के लिए विचार अथवा पुनर्विचार करने के लिए किसी ऐलान या आयोजन की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वे यह मानते हैं विचार अपने आप में एक जारी सिलसिला है जो इनसान की 'जेहनी फिजा' और बौद्धिक क्रियाकलापों को आंदोलित किए रखता है। 'मुक्तिबोध को कैसे पढ़ें' शीर्षक आलेख के माध्यम से प्रियदर्शन मुक्तिबोध के पठनीयता पर सवाल खड़ा करते हैं और यह भी कहते हैं कि मुक्तिबोध को पढ़ना हमेशा अधूरा ही रह जाता है। कहने का आशय है कि वे जितने दीखते हैं उससे कहीं ज्यादा उनका अदृश्य अनदेखा रह जाता है। 'महास्वप्न के झुरमुटे में 'स्त्री' (संदर्भ : मुक्तिबोध)' शीर्षक से अनामिका उनकी चिट्ठियों और डायरी के बहाने अपनी बात रखती हैं। इसी अंक में मुक्तिबोध की रचनाओं पर कई रचनाकारों की बड़ी सार्थक टिप्पणी है। समग्रता में देखा जाय मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने इस अंक के बहाने मुक्तिबोध की रचनात्मकता से जुड़ने की पर्याप्त सामग्री पाठकों को सौंप दी है। यह अंक मुक्तिबोध पर शोध करने वाले अध्येताओं के लिए भी काफी उपयोगी साबित होगा ऐसी आशा की जा सकती है। बेहतरीन अंक संयोजन के लिए संपादक द्वय को बधाई।

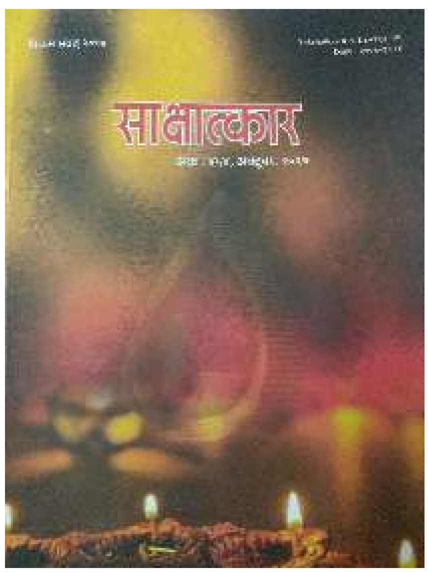

साक्षात्कार

हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं में कुछ ही साहित्यिक पत्रिका राजकीय अनुदान के साथ भी बेहतरीन प्रकाशन होती हैं, उन पत्रिकाओं में 'साक्षात्कार' अग्रणी है। इस पत्रिका के प्रस्तुत अंक का संपादन उमेश कुमार सिंह द्वारा किया गया है। आवरण द्वितीय पृष्ठ पर महावीर प्रसाद द्विवेदी की कविता 'आर्य भूमि' पर ओजपूर्ण ढंग से चर्चा करते हैं, जिसमें भारतीय संस्कृति के ऊपर संपादकीय में वैदिक ऋषि के माध्यम से तीन बातों को सामने रखते हैं- प्रथम वैदिक युग आधुनिक कालगणना में कहां उपस्थित है, यह इतिहास का विषय है न कि साहित्य का क्योंकि साहित्य का कार्य रसानुभूति करना है। दूसरा विचार यह है कि जब ऋषि स्वं, स्वं की बात करता है तो वहीं पर वह वयं को भी रखते हुए पूरी परंपरा को भी देखता है। तीसरी बात 'सर्वे भवंतु सुखिनः' की है। यहीं वह यह भी बताना चाहते हैं कि वैदिक काल भी वाद की सीमाओं से घिरा और विचारों से प्रभावित था। प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य के विशिष्ट कथाकार उपेंद्रनाथ अश्क से विद्याबिंदु सिंह से लमी बातचीत दी है हालांकि यह साक्षात्कार 1987 में लिया गया है जिसमें अश्क ने अपनी रचना प्रक्रिया से जुड़े तमाम तथ्यों को उजागर करने का प्रयास किया है। 'कला कला के लिए' के सवाल पर उन्होंने कहा कि यह दोनों धाराएं कभी तेज कभी धीमी चलती रहती हैं, सामाजिक स्थितियों के अनुसार कभी यह प्रबल हो जाती है कभी दूसरी... कठिन और सरल भाषा लेखन के सवाल पर अश्क मानते हैं कि मैं आसान भाषा लिखना चाहता हूं और उनकी यही चाहत उन्हें एक बड़ा रचनाकार बनाती है। व्यास मणि त्रिपाठी 'कुंवर नारायण की कविता : जीवन के यथार्थ से साक्षात्कार' शीर्षक आलेख में यह स्पष्ट करते हैं कि कुंवर नारायण की महत्वपूर्ण कृति 'आत्मजयी' तथा 'बाजश्रवा के बहाने' को सिर्फ कठोपनिषद का उपजीव्य कहकर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता बल्कि उसमें आज के मनुष्य की जटिलताओं के समाधान भी देखा जाना चाहिए। इस आलेख में वे कुंवरनारायण की कविता की ताकत पर भी विचार करते हैं

जिसमें वह कहते हैं : 'बहुत कुछ दे सकती है कविता/क्योंकि बहुत कुछ हो सकती है कविता/जिंदगी में/अगर हम जगह दें उसे/ जैसे फूलों को जगह देते हैं पेड़/जैसे तारों को जगह देती हैं रात/'। सदानंद प्रसाद गुप्त महादेवी वर्मा पर विचार करते हुए अपने आलेख को 'स्वाधीन चेतना की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति : महादेवी वर्मा का व्यक्तित्व और कृतित्व' शीर्षक से संयोजित किया है। इसमें यह मानते हैं कि छायावाद में जो विद्रोही चेतना के स्वर निकले थे वे सभी महादेवी वर्मा की कविताओं में व्यक्त किया गया है। यह सर्वविदित है कि नेहरू परिवार से महादेवीजी का घनिष्ठ जुड़ाव रहा है लेकिन आपातकाल के दौरान महादेवी ने आपातकाल का मुखर एवं निर्भीक प्रतिकार किया कि- 'आज सारा देश कारागार हो गया है।' रमेशचंद्र शाह मानते हैं कि स्वाधीनता किसी भी साहित्यिक संस्कृति का बुनियादी मूल्य है। गुप्तजी मानते हैं कि महादेवी का स्वाभिमानी एवं स्वाधीन व्यक्तित्व मध्यकालीन संत भक्त कवियों की याद दिलाता है और इन कवियों की यह खासियत रही है कि यह कभी भी व्यक्ति सत्ता के समक्ष नतमस्तक नहीं हुए। कमोवेश महादेवी की भी यही विशेषता रही है। इस आलेख में 'विश्व मानवतावाद', 'परंपरा और आधुनिकता' जैसे कई महत्वपूर्ण प्रत्ययों को महादेवी वर्मा के माध्यम से रेखांकित किया गया है। पद्मा सिंह ने 'चेतना का स्वर और भारतीय नारी' शीर्षक से अपनी बार रखती है। इस आलेख में वह वैदिककाल से आज तक की नारी की स्थिति का पड़ताल करती हैं। यह बताना चाहती हैं कि आज की नारी में नारी चैतन्य कूट-कूट भर चुका है और वह प्रगति के सोपानों पर आगे बढ़ रही हैं। इस अंक की यह भी विशेषता है कि इसमें भगिनी निवेदिता पर विशेष सामग्री दी गई है। पहला आलेख इला घोष का है जिसका शीर्षक है 'नारी शिक्षा नारी उत्थान में भगिनी निवेदिता का स्थान,' दूसरा आलेख 'स्वामी विवेकानंद का स्त्री विमर्श और भगिनी निवेदिता' श्रीमती कमल चतुर्वेदी का है। तीसरा 'भगिनी निवेदिता और भारतीय चेतना' नामक आलेख रामभुवन सिंह का है। समग्रता में देखा जाए तो बहुत सी शोधात्मक सामग्री का संचयन इस अंक में किया गया है जिसके लिए संपादक को धन्यवाद। ■

संदर्भित पत्रिकाएं :

1. नया ज्ञानोदय (सितंबर 2017) : सं. लीलाधर मंडलोई, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली 110003, मू. 30/-

2. वागर्थ (सितंबर 2017) : सं. शंभुनाथ, 36 ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-700017, मू. 20/-

3. नया पथ (अप्रैल-सितंबर 2017) : सं. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, 42 अशोक रोड नई दिल्ली, मू. 100/-

4. साक्षात्कार (अक्टूबर 2017) : सं. उमेश कुमार सिंह, साहित्य अकादमी, संस्कृति भवन, बाणगंगा, भोपाल -3, मू. 25/-

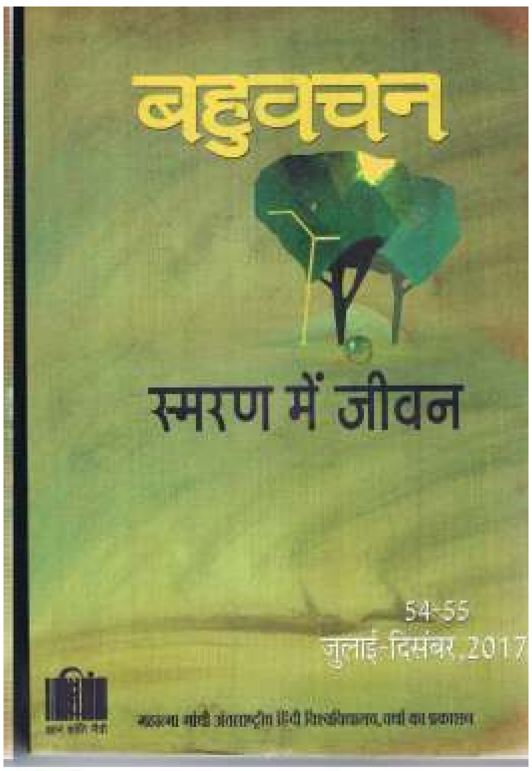

पुस्तकें मिलीं

हिंदी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास खंड-3, *डॉ. कुसुम राय,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2016 (द्वितीय संशोधित संस्करण) पृ. : 592, रु. 300

साहित्य के आस-पास, *डॉ. चरणजीत सिंह सचदेव,* यश पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2017 (प्रथम संस्करण), पृ. : 168, रु. 395

तीन श्रेष्ट नाटक, *क़ाज़ी मुश्ताक़ अहमद,* मॉडर्न पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2016, पृ. : 136, रु. 300

रस आखेटक, *कुबेरनाथ राय, मुहम्मद हारून रशीद खान,* विद्या विकास एकेडेमी, नई दिल्ली, 2016 (प्रथम संस्करण), पृ. : 176, रु. 250

विस्मृत निबंध, *लीलाधर मंडलोई,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2017 (प्रथम संस्करण), पृ. : 224, रु. 350

आधुनिक भारत का इतिहास, *डॉ. अशोक कुमार चटर्जी व डॉ. आनंद कुमार,* बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2015 (प्रथम संस्करण), पृ. : 323, रु. 200

आर्थिक विकास-मॉडल, *डॉ. मोहन प्रसाद श्रीवास्तव,* बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2013 (प्रथम संस्करण), पृ. : 592, रु. 475

प्रेमतीर्थ, *नरेन्द्र मोदी,* राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, 2015 (प्रथम संस्करण), पृ. : 135, रु. 165

मेरी प्रिय कहानियाँ, *रवीन्द्र कालिया,* राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, 2017 (प्रथम संस्करण), पृ. : 140, रु. 150

ब्रर्ल्टोल्ट ब्रेख्त की कहानी सुकरात का घाव, *चंद्रकांत देवताले,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017 (प्रथम संस्करण), पृ. : 43, रु. 125

खुद पर निगरानी का वक़्त, *चंद्रकांत देवताले,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015 (प्रथम संस्करण), पृ. : 147, रु. 350

भोजपुरी, *नागेंद्र प्रताप सिंह,* साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 2017 (प्रथम संस्करण), पृ. : 100, रु. 80

सेनापति, *सूर्यप्रसाद दीक्षित,* साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 2017 (प्रथम संस्करण), पृ. : 117, रु. 50

जर्मन कहावतें, *जयराज बिहारी,* स्टार पब्लिकेशंस प्रा. लि., नई दिल्ली, 2017 (प्रथम संस्करण), पृ. : 84, रु. 200

मॉरिशसीय हिंदी नाट्य साहित्य और सोमदत्त बखोरी, *नूतन पांडेय,* : स्टार पब्लिकेशंस प्रा. लि., नई दिल्ली, 2016 (प्रथम संस्करण), पृ. : 142, रु. 200

युद्ध अभी जारी है, *अरविंद भारती,* बोधि प्रकाशन, जयपुर, 2017 (प्रथम संस्करण), पृ. : 96, रु. 100

पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, *चित्रा मुद्गल,* सामयिक पेपरबैक्स, 2017, पृ. : 224, रु. 200

आपकी सेहत, *विजय मित्तल,* राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, 2017 (प्रथम संस्करण), पृ. : 218, रु. 250

हज़ारों डूबते सूरज, *ज़ैनुल आबेदीन ख़ाँ,* वाइट फाल्कन पब्लिशिंग, चंडीगढ़, 2015, पृ. : 180, रु. 225

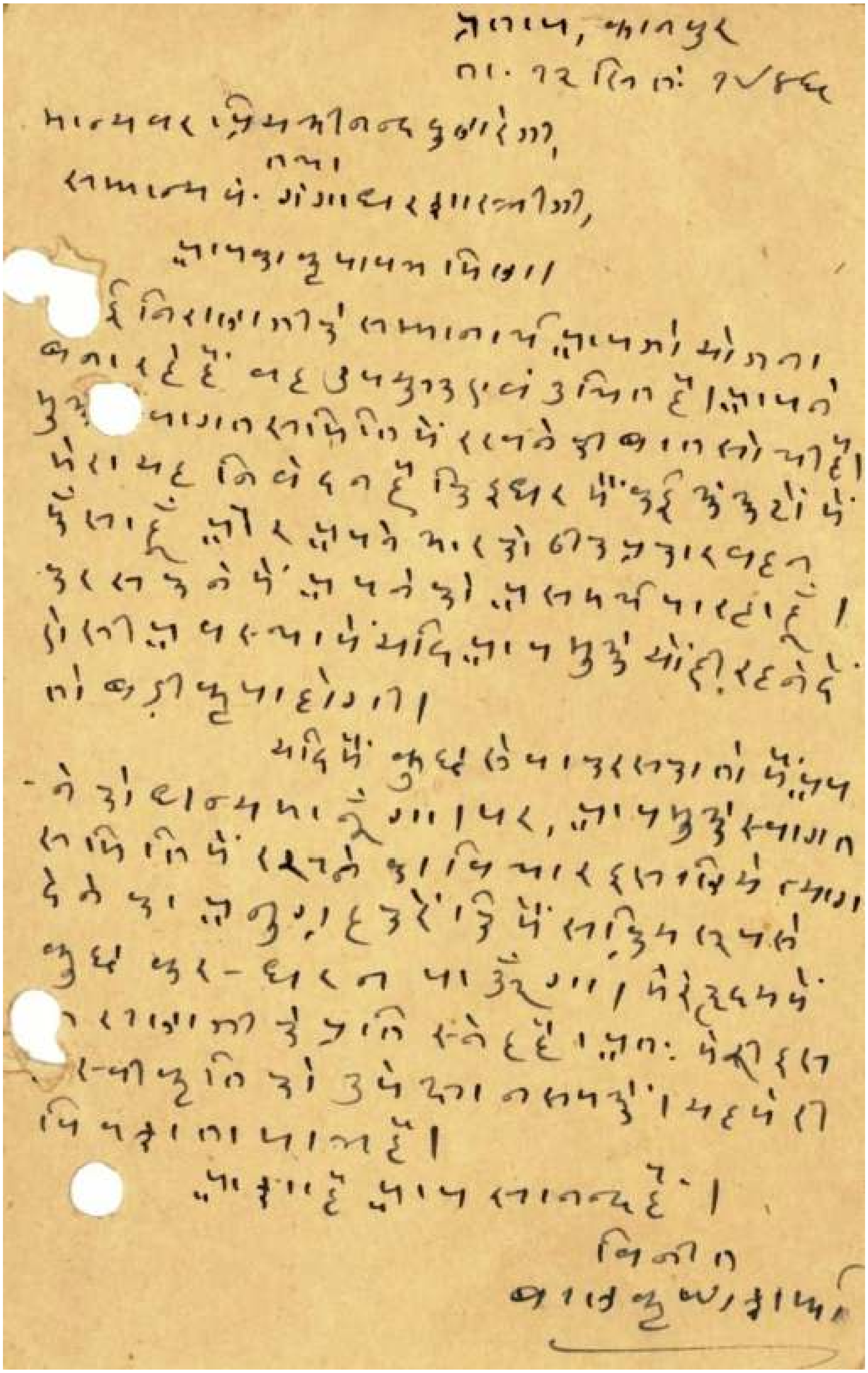

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' द्वारा आचार्य नंददुलारे वाजपेयी को लिखा गया यह पत्र
स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में संरक्षित है।

प्रकाशन विभाग

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

सदस्यता आवेदन पत्र

'बहुवचन' त्रैमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 300 रु. (व्यक्तिगत)
'बहुवचन' त्रैमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 400 रु. (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)

'पुस्तक-वार्ता' द्विमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 120 रु. (व्यक्तिगत)
'पुस्तक-वार्ता' द्विमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 180 रु. (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)

(नोट : केवल बैंक ड्राफ्ट स्वीकार किए जाएंगें। कृपया मनीऑर्डर एवं चेक न भेजें।)

बैंक ड्राफ्ट 'महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट स्वीकार्य होगा।

प्रकाशन प्रभारी
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)
फोन नं. 07152-232943

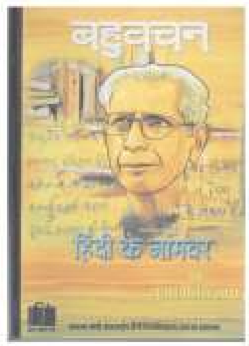

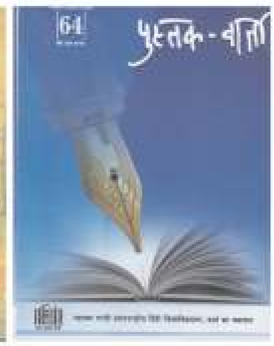

Bank Details for Online Payment :
Name: Finance Officer, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Bank Name: **Bank of India, Wardha** Account No.: **972110210000005**
IFSC Code No.: **BKID0009721** MICR Code No.: **442013003**

बहुवचन/पुस्तक-वार्ता पत्रिका के अंक .... से .... के लिए
रुपये .... का बैंक ड्राफ्ट संख्या .... दिनांक ....
संलग्न कर रहा हूँ/कर रही हूँ, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भेजे :-

नाम : ....

पता : ....

दूरभाष : .... ई-मेल : ....

दिनांक : .... (सदस्य के हस्ताक्षर)

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के नए प्रकाशन

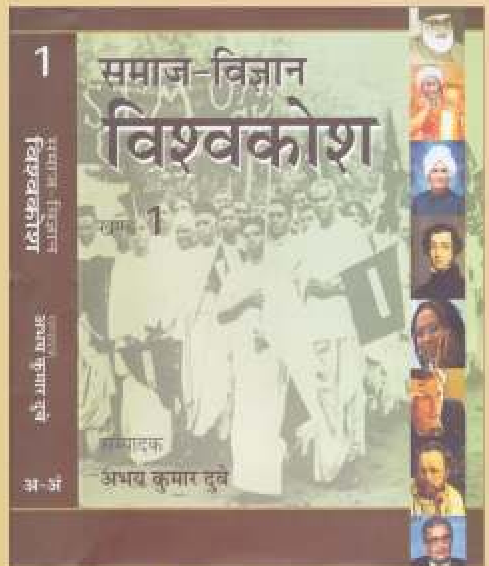

मूल्य : 6000 (6 खंड)

मूल्य : 1000

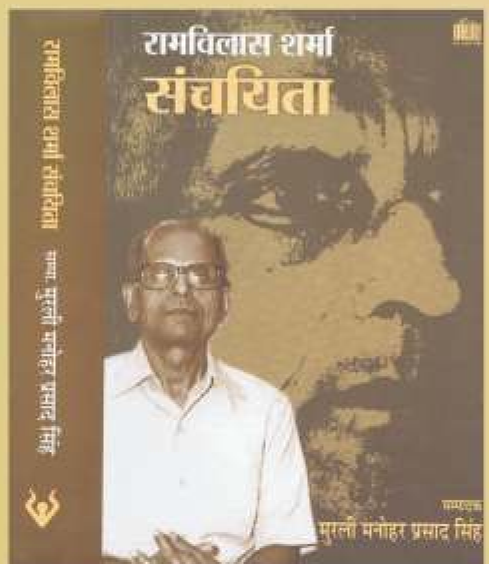

मूल्य : 500

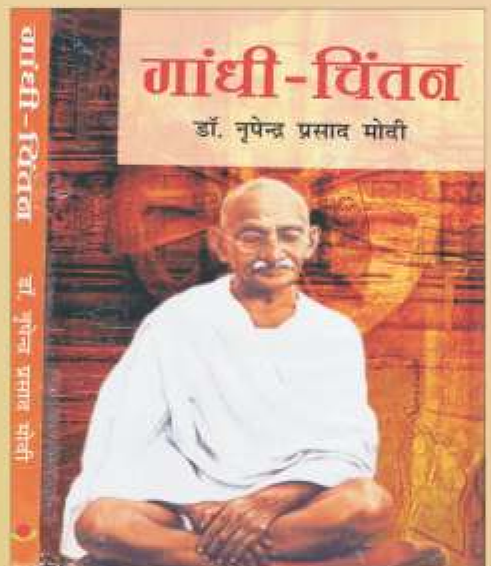

मूल्य : 250

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र) भारत — नैक (NAAC) द्वारा 'A' ग्रेड प्रदत्त

प्रवेश सूचना : 2018-19

हिंदी माध्यम से संचालित निम्नलिखित नियमित पाठ्यक्रमों के लिए आवेदन आमंत्रित किए जाते हैं–

1. पी–एच.डी. कार्यक्रम : • भाषा प्रौद्योगिकी (सीटें: अना. 5, अपिव 2, अजा 1, अजजा 1) • इंफॉर्मेटिक्स एंड लैंग्वेज इंजीनियरिंग (सीटें: अना. 2, अपिव 1, अजा 1) • स्पेनिश (सीटें:अना. 2,अपिव 1) • हिंदी साहित्य (सीटें: अना. 3, अपिव 1, अजा 1) • परफॉर्मिंग आर्ट्स (फिल्म एवं थिएटर) (सीटें: अना. 1, अपिव 1) • गांधी एवं शांति अध्ययन (सीटें: अना. 3, अपिव 2, अजा 1) • स्त्री अध्ययन (सीटें: अना. 1) • दलित एवं जनजातीय अध्ययन (सीटें: अना. 2, अपिव 1, अजा 1) • बौद्ध अध्ययन (सीटें: अना. 4, अपिव 2, अजा 1) • जनसंचार (सीटें: अना. 4, अपिव 2, अजा 1) • मानवविज्ञान (सीटें: अना. 1, अपिव 1) • सोशल वर्क (सीटें: अना. 2, अपिव 1, अजा 1) • शिक्षाशास्त्र (सीटें: अना. 3, अपिव 2, अजा 1)

2. एम.फिल. पाठ्यक्रम : • भाषा प्रौद्योगिकी (सीटें: अना. 6, अपिव 3, अजा 2, अजजा 1) • कंप्यूटेशनल भाषाविज्ञान (सीटें: अना. 2, अपिव 1, अजा 1) • स्पेनिश (सीटें : अना. 1) • हिंदी साहित्य (सीटें: अना. 8, अपिव 4, अजा 3, अजजा 1) • परफॉर्मिंग आर्ट्स (फिल्म एवं थिएटर) (सीटें: अना. 2, अपिव 1) • गांधी एवं शांति अध्ययन (सीटें: अना. 4, अपिव 2, अजा 1) • स्त्री अध्ययन (सीटें: अना. 1, अपिव 1) • दलित एवं जनजातीय अध्ययन (सीटें: अना. 2,अपिव 1,अजा 1) • बौद्ध अध्ययन (सीटें: अना.1,अपिव 1) • अनुवाद अध्ययन (सीटें: अना. 1, अपिव 1) • प्रवासन एवं डायस्पोरा अध्ययन (सीटें: अना. 1, अपिव 1) • जनसंचार (सीटें: अना. 4, अपिव 2, अजा 1) • मानवविज्ञान (सीटें: अना. 3, अपिव 1, अजा 1) • सोशल वर्क (सीटें: अना. 3, अपिव 2, अजा 1) • शिक्षाशास्त्र (सीटें: अना. 3, अपिव 1, अजा 1) • मनोविज्ञान (सीटें: अना. 1, अपिव 1)

3. स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम : • भाषा प्रौद्योगिकी • मास्टर ऑफ इंफॉर्मेटिक्स एंड लैंग्वेज इंजीनियरिंग • हिंदी साहित्य • तुलनात्मक साहित्य • प्रयोजनमूलक हिंदी एवं भाषा प्रबंधन • उर्दू • मराठी • अंग्रेजी • संस्कृत • मास्टर ऑफ परफॉर्मिंग आर्ट्स(फिल्म एवं थिएटर) • गांधी एवं शांति अध्ययन • स्त्री अध्ययन • दलित एवं जनजातीय अध्ययन • बौद्ध अध्ययन • अनुवाद अध्ययन • प्रवासन एवं डायस्पोरा अध्ययन • जनसंचार • मानवविज्ञान • एम.एस.डब्ल्यू • शिक्षाशास्त्र • मनोविज्ञान • एमबीए • एम.एड.

4. स्नातक पाठ्यक्रम / बी.ए.–एम.ए. (एकीकृत) : • बी.एड. • बी.वोक (फिल्म निर्माण) • बी.वोक (अभिनय एवं मंच विन्यास) • बी.एस.डब्ल्यू. • बी.ए.(ऑनर्स) : हिंदी, अंग्रेजी, भाषाविज्ञान, पत्रकारिता, मनोविज्ञान, स्पेनिश, फ्रेंच, चीनी, जापानी, बी.कॉम. (ऑनर्स) • बी.ए. (सामान्य) : राजनीतिविज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास • बी.ए.–एम.ए. मानवविज्ञान (एकीकृत)

5. एडवांस्ड डिप्लोमा : • मराठी • उर्दू • संस्कृत • अंग्रेजी

6. पी.जी.डिप्लोमा : • भाषा शिक्षण • भाषाविज्ञान • भाषा–प्रौद्योगिकी • पीजीडीसीए • गांधी अध्ययन • स्त्री अध्ययन • देशज संस्कृति भाषा और जेंडर • दलित विचार • बौद्ध अध्ययन • पालि भाषा एवं साहित्य • बौद्ध पर्यटन एवं गाइडिंग • तिब्बती भाषा एवं धर्म • अनुवाद • प्रयोजनमूलक हिंदी • निर्वचन • भारतीय डायस्पोरा • एनजीओ प्रबंधन • मानव संसाधन प्रबंधन

7. डिप्लोमा : • फोरेंसिक साइंस • योग एवं स्वास्थ्य अध्ययन • परामर्श एवं निर्देशन • मराठी • उर्दू • संस्कृत • पालि • अंग्रेजी • चीनी • स्पेनिश • जापानी • फ्रेंच • डीसीए • भारतीय शास्त्रीय संगीत (गायन)

8. सर्टिफिकेट (भाषा) : • मराठी • उर्दू • संस्कृत • चीनी • स्पेनिश • जापानी • फ्रेंच • अंग्रेजी • भारतीय शास्त्रीय संगीत(गायन)

9. इलाहाबाद क्षेत्रीय केंद्र के पाठ्यक्रम : • बी.एस.डब्ल्यू. • एम.ए. हिंदी साहित्य • एम.एस.डब्ल्यू. • एम.फिल. परफॉर्मिंग आर्ट्स (फिल्म एवं थिएटर) (सीटें: अना. 1) • एम.फिल. हिंदी साहित्य (सीटें: अना. 2, अपिव 1)
• पी–एच.डी. हिंदी साहित्य (सीटें: अना. 2, अपिव 1) • डिप्लोमा : उर्दू भाषा • पी.जी. डिप्लोमा : अनुवाद, परफॉर्मिंग आर्ट्स (फिल्म एवं थिएटर), स्त्री अध्ययन, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान

10. कोलकाता क्षेत्रीय केंद्र के पाठ्यक्रम : • एम.ए. हिंदी साहित्य • एम.ए. जनसंचार • एम.फिल. हिंदी साहित्य (सीटें: अना. 1) • एम.फिल. जनसंचार (सीटें: अना. 2, अपिव 1) • पी–एच.डी. जनसंचार (सीटें: अना. 1, अपिव 1)

आवेदन–पत्र सहित विवरणिका अकादमिक विभाग से **'महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय' के पक्ष में, वर्धा** में देय, डाक व्यय सहित रु. 350 का डी.डी. (अजा. / अजजा / दिव्यांग के लिए रु. 250) भेजकर या रु. 300 (अजा. / अजजा / दिव्यांग के लिए रु. 200) का नकद भुगतान कर प्राप्त की जा सकती है। एक से अधिक पाठ्यक्रमों के लिए आवेदन करने वाले अभ्यर्थियों को प्रत्येक पाठ्यक्रम के लिए अलग आवेदन–पत्र एवं डी.डी. जमा करना होगा। आवेदन–पत्र ऑनलाइन *www.hindivishwa.org* पर भी उपलब्ध है। ऑनलाइन आवेदन–पत्र के लिए ऑनलाइन ही शुल्क रु. 300 (अजा. / अजजा / दिव्यांग के लिए रु. 200) का भुगतान करना होगा। डाउनलोड किए गए आवेदन–पत्र को जमा करते समय सामान्य श्रेणी के अभ्यर्थियों को रु. 300 (अजा / अजजा / दिव्यांग श्रेणियों के अभ्यर्थियों को रु. 200) का डी.डी. संलग्न करना होगा। अजा / अजजा / अपिव / दिव्यांग / पूर्वोत्तर राज्य के विद्यार्थी / कश्मीरी विस्थापित / सेना के सेवानिवृत्त कर्मियों के आश्रितों को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और केंद्र सरकार के नियमानुसार आरक्षण देय होगा।

1. पी-एच.डी./एम.फिल./एम.एड./एम.बी.ए./बी-एड. हेतु आवेदन शुल्क सहित आवेदन करने तथा आवेदन प्राप्ति की तिथि	: 15 मार्च से 5 मई, 2018
2. शेष पाठ्यक्रमों के लिए आवेदन शुल्क सहित आवेदन करने तथा आवेदन प्राप्ति की तिथि	: 15 मार्च से 18 जून, 2018
3. पी-एच.डी./एम.फिल./एम.एड./एम.बी.ए./बी-एड. हेतु लिखित परीक्षा	: 9-10 जून, 2018
4. पी-एच.डी./एम.फिल. हेतु साक्षात्कार तिथि	: 25 से 27 जून, 2018
5. पी-एच.डी./एम.फिल./एम.एड./एम.बी.ए./बी-एड. हेतु प्रवेश के लिए चयनित विद्यार्थियों की सूची का प्रकाशन	: 27 से 30 जून, 2018
6. पी-एच.डी./एम.फिल./एम.एड./एम.बी.ए./बी-एड. हेतु प्रवेश तिथि	: 27 जून से 2 जुलाई, 2018
7. बी.ए.-एम.ए.मानवविज्ञान (एकीकृत)/बी.ए./बीएसडब्ल्यू./बी.वोक./बी.कॉम. पाठ्यक्रमों में प्रवेश हेतु लिखित और अथवा साक्षात्कार की तिथि	: 27 से 28 जून, 2018
8. बी.ए.-एम.ए. मानवविज्ञान (एकीकृत)/बी.ए./बीएसडब्ल्यू./बी.वोक./बी.कॉम./एडवांस्ड डिप्लोमा/पीजी डिप्लोमा/डिप्लोमा/सर्टिफिकेट/ पाठ्यक्रमों हेतु चयनित विद्यार्थियों की सूची का प्रकाशन एवं प्रवेश	: 27 जून से 2 जुलाई, 2018
9. एम.ए./एमएसडब्ल्यू हेतु लिखित परीक्षा	: 25 - 26 जून, 2018
10. एम.ए./एमएसडब्ल्यू हेतु चयनित विद्यार्थियों की सूची का प्रकाशन एवं प्रवेश	: 26 जून से 2 जुलाई, 2018

सुविधाएँ : वाई-फाई परिसर, छात्रावास, पुस्तकालय, शोधवृत्ति, कंप्यूटर लैब, अस्पताल — टोल फ्री नं. 1800 2332 141

प्रवेश हेतु पात्रता एवं सीटों की संख्या के लिए विवरणिका देखें। यह www.hindivishwa.org पर भी उपलब्ध है।

– कुलसचिव